सावधानी की सूचना।

"तर्कसे वेदका अर्थ" करनेके समय जो भ्रांतिमूलक गलतियां होना संभव है, उनको दूर करनेके उद्देशसे यह "सावधानीकी सूचना" दी जाती है। हरएक तर्क करनेवाला सज्जन भद्र पुरुष इसका अवश्य विचार करे, और पीछेसे आनेवालोंके लिये अत्यंत सावधानताके साथ मार्गकी शुद्धता करे।

औंध, जि० सातारा,
१ माघ सं. १९७९.

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल.

प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, (स्वाध्याय मंडलके लिये)
(औंध, जि० सातारा.)

मुद्रक—रामचंद्र येसु शेडगे, 'निर्णयसागर' छापखाना,
२३, कोलभाट गल्ली, मुंबई.

तर्कसे वेदका अर्थ।

वेदका अर्थ तर्कसे करना चाहिए, यह कइयोंका पक्ष है। सब मंत्रोंका सब उपदेश तर्कसे सिद्ध होता है इस लिये मंत्रोक्त उपदेश सत्य है, ऐसा कई प्रतिपादन करते हैं। जो वेदकी बात तर्कसे सिद्ध न होगी वह ठीक नहीं मानी जा सकती, ऐसा कई विद्वान बोलते हैं। सब वैदिक उपदेश तर्कानुकूल सिद्ध होता है इस लिये ही हम वैदिक धर्मी बने हैं ऐसी उद्घोषणा कई करते हैं। अन्य धर्मोंमें और वैदिक धर्ममें यही भेद है कि वेदका उपदेश तर्कगम्य है ऐसा कई वक्ताओंका प्रतिपादन है। स्वमतकी पुष्टिके लिये ये सज्जन निम्न आधार देते हैं—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

मनु. १२।१०६

तेभ्य एतं तर्कं ऋषिं प्रायच्छन्।

निरु. १३।१२

मनुस्मृतिका और निरुक्तका प्रमाण देनेके पश्चात् किसीको शंका करना भी उचित नहीं है। परंतु हमें इसमें एक शंका है। किसका तर्क योग्य समझा जावे और किसका नहीं? क्यों कि जितने लोगोंनें इस समय तक वेदका अर्थ करनेका यत्न किया है, उन सबने तर्कसे ही काम लिया है। अपने तर्कका उपयोग न करते हुए किसीने भाष्य अथवा वेदपर टीका की होगी, ऐसा मानना असंभव है। एकका तर्क दूसरेके तर्कके साथ नहीं मिलता, इसलिये हरएक कहता है कि मेरा तर्क ठीक है और दूसरेका तर्क ठीक तर्क न था। परंतु पक्षपातकी भूमि छोड कर निःपक्षपातकी दृष्टिसे देखा जायगा तो मानना पडेगा, कि अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार उनमेंसे हर-

एकका तर्क था । हमारी बुद्धिके अनुसार जिसका तर्क होता है उसका हमारे लिये सत्य प्रतीत होता है । वास्तवमें किसीके तर्ककी सत्यता और असत्यताकी कसौटी भिन्न ही है ।

उक्त विद्वानोंके कथन यदि सत्य माने जांयगे तो वेद पर एक बडी भारी आपत्ति आजाती है, वह आपत्ति यह है, कि "वेदका ज्ञान उतना ही है कि जितना हमारे जैसे साधारण मनुष्योंके तर्कका अवकाश है ।" जो कहते हैं कि वेदका सब ज्ञान हम तर्कद्वारा सिद्ध कर सकते हैं, उनके मतसे उनका तर्क बडा है और वेदका ज्ञान उससे छोटा है; अन्यथा यदि वेदका ज्ञान अगाध माना जायगा तो उनकी परिमित तर्क शक्तिमें उस सब ज्ञानका आना अशक्य हो सकेगा । अर्थात् इनके मतसे संपूर्ण वेदका ज्ञान उतनाही है कि जितना ये लोग इस समय तर्कद्वारा ग्रहण कर सकते हैं । परंतु विचारी पाठक इस प्रकार नहीं मान सकते और न किसीने इस प्रकार इस समयतक माना है । सब बडे बडे विद्वान इस समय तक वेदका ज्ञान अपार और अगाध है ऐसा ही मानते आये हैं । तथा वेदके ज्ञानमें अपारता और अगाधता न होगी तो वेद सब मनुष्योंका मार्ग बताने वाला धर्म पुस्तक नहीं माना जा सकता । इसी लिये इस समय तक जो जो बडे विद्वान हुए हैं वे सब मानते आये हैं कि वेदमें अगाध ज्ञान है, गुह्यसे गुह्य बातें वेदमें हैं और वह गुप्त ज्ञान अव्यक्त अर्थात् गुह्य रीतिसे (किंवा परोक्ष रीतिसे) वेदमें दिया है । इस लिये यहां प्रश्न होता है कि आजकलके वक्ताओंके कथन सत्य हैं या उक्त सत्पुरुषोंके वचन सत्य हैं ? तथा निरुक्त, मनुस्मृति आदि ग्रंथोंका क्या तात्पर्य है ? निरुक्तने 'तर्क-ऋषि' बताया है और मनुने भी तर्ककी सहायता लेनेके लिये कहा है; परंतु इन ऋषिमुनियोंका तात्पर्य और ही है देखिए—

> मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्
> को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं
> तर्कमृषिं प्रायच्छन् मंत्रार्थचिताभ्यूह-
> मभ्यूढम् । तस्माद्यदेव किंचानूचानो-
> ऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥
>
> निरु. १३।१२

'जब ऋषि इस लोकसे चले जाने लगे तब मनुष्य देवोंसे पूछने लगे कि हमारे लिये अब कौन ऋषि होगा? उन मनुष्योंके लिये देवोंने मंत्रोंके अर्थ करनेके विचार साधनसे युक्त इस तर्करूपी ऋषिको दिया। इस लिये जो कोई विद्वान् विचार करके अर्थ बताते हैं वह ऋषिप्रणीत ही अर्थ हो जाता है।"

इस निरुक्तके वाक्यमें 'तर्कं ऋषिं' ये शब्द हैं, परंतु इनका अर्थ 'साधारण लोकोंका तर्क' नहीं है।

> मंत्रार्थ-चिंताऽभ्यूहमभ्यूढं एतं
> तर्कं ऋषिं।

ये निरुक्तके शब्द 'निरुक्त शास्त्र' के बोधक हैं। निरुक्तमें मंत्रोंके अर्थोंकी संगति लगानेका उत्तम विचार है और यही 'निरुक्तरूपी तर्क ऋषि' देवोंने दिया है, यह उक्त वचनका तात्पर्य है। भगवान् दुर्गाचार्यजीभी अपने भाष्यमें यही लिखते हैं।

> मनुष्या वा ऋषिपूत्क्रा०। एवमादि पुराकल्प-
> रूपोर्थवादः शास्त्रावतारस्तुतये।

'मनुष्या वा ऋषिपूत्क्रा० इत्यादि जो कथन है वह निरुक्तशास्त्रकी उत्पत्तिकी प्रशंसा करनेके लिये है।' अर्थात् उक्त कथनसे निरुक्तशास्त्रका महत्त्व बताया है। ऋषियोंकी अनुपस्थितिमें निरुक्तशास्त्रमें प्रवीण मनुष्य वेदका जो अर्थ करेगा वह ऋषिकृत अर्थके समानही होगा; इतनाही उक्त कथनका तात्पर्य है। निरुक्तके उक्त कथनमें जो 'तर्क ऋषि' कहा है वह हरएक मनुष्यका मनमाना तर्क नहीं है, परंतु विशेष प्रकारके विद्वानका निरुक्तशास्त्रके अनुसार किया हुवा तर्क है। इस-प्रकार निरुक्तके कथनका तात्पर्य है। अब अन्य विचार करनेके पूर्व पूर्वोक्त मनुस्मृतिके वचनका आशय देखेंगे—

> अज्ञेभ्यो ग्रंथिनः श्रेष्ठा ग्रंथिभ्यो धारिणो वराः॥
> धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥ १०३॥
> तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्॥
> तपसा किल्बिषं हंति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ १०४॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ॥
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ॥
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

मनु. अ. १२

"अनपढोंसे पुस्तक पढनेवाले श्रेष्ठ हैं, पुस्तकें पढनेवालोंसे विद्याकी उपस्थिति रखनेवाले श्रेष्ठ हैं, उनसे ज्ञानी श्रेष्ठ हैं, और ज्ञानियोंसेभी अनुष्ठानी अर्थात् आप्त उपदेशके अनुसार आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं। तप और विद्या ब्राह्मणको बडा निःश्रेयस देती है, तपसे पाप दूर होता है और विद्यासे अमृतकी प्राप्ति होती है ॥ प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध शास्त्र इन तीनोंमें उत्तम प्रवीणता संपादन करना उचित है, तभी धर्मके तत्वको जाना जा सकता है ॥ ऋषियोंके कहे हुए धर्मोपदेशका वेदशास्त्रके अविरोधी तर्कसे जो अनुसंधान करता है वही धर्मको जानता है दूसरा नहीं जान सकता ॥"

ये मनुस्मृतिके सब श्लोक देखनेसे 'तर्क' का तात्पर्य ज्ञात हो सकता है। यहां साधारण मनुष्योंका मनमाना तर्क नहीं है परंतु विशेष विद्वानका विशेषप्रकारका तर्क है।

उपदेशके अनुसार आचरण करनेवाले, कर्तव्यकर्म करनेके समय होनेवाले शीतोष्णादि कष्ट सहन करनेवाले, प्रत्यक्ष अनुमान और आगममें प्रवीण जो होते हैं, वे सत्पुरुष निःपक्षपातके भावसे सत्यधर्मका अन्वेषण करनेके लिये जिस वेदशास्त्रानुसारी तर्कका अवलंबन करते हैं उस तर्कसे धर्मका ज्ञान होता है।

यहांका तर्कभी साधारण मानवोंका अशिक्षित तर्क नहीं है। वेदशास्त्रानुसारी तर्क यहां अपेक्षित है। जिसने वेद और शास्त्रोंका पठनपाठन किया है, वेद और शास्त्रोंकी प्रतिपादन शैलीका जिसको पूर्ण पता है उसका तर्क यहां अपेक्षित है। इस बातका विचार हरएकको करना उचित है। इस विषयमें निरुक्तकी सूचना बहुत विचार करने योग्य है, देखिए—

अयं मंत्रार्थचिंताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति। अनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति॥

निरु. १३।१२

"यह (निरुक्त शास्त्र) मंत्रोंका अर्थ—विचार करनेका उत्कृष्ट साधन है। मंत्रोंका अर्थ करना हो तो श्रुतिके प्रमाण लेकर तथा वेदशास्त्रके प्रमाणोंके अनुसार तर्क करके, प्रकरणके अनुसार मनन करना उचित है। मंत्रोंको अलग लेकर उनका स्वतंत्र अर्थ करना योग्य नहीं है। क्यों कि मंत्रोंमें प्रत्यक्ष विषयकी बातें नहीं होतीं अर्थात् अप्रत्यक्ष सूक्ष्म विषय होता है। जो ऋषि और तपस्वी नहीं है, तथा जो साधारण लोक होते हैं, जिनको दूसरोंका उपदेश सुनकरही ज्ञान होता है, उन सबमें विशेष विद्वानही प्रशस्त होता है।"

इस निरुक्तके कथनमें वेदका अर्थ करनेके लिये बहुतही योग्य सूचनाएँ दी हैं। (१) वेदके अंतर्गत प्रमाण देखने चाहिए, (२) वेदके अंतर्गत प्रमाणोंके अनुसार तर्कसे संगति लगानी चाहिए, (३) प्रत्येक मंत्रको अलग मानकर उसका मनमाना अर्थ नहीं करना चाहिए, (४) परंतु मंत्रोंके प्रकरणके अनुसार उनका अर्थ करना उचित है, (५) वेदमें अप्रत्यक्ष सूक्ष्म अर्थ होता है, (६) वेदकी शैली गूढ होती है, इसलिये वेदके आंतरिक प्रमाणोंद्वाराही वेदके सत्य अर्थका निश्चय करना चाहिए। (७) अनेक विद्याओंमें प्रवीण मनुष्यही वेदका अर्थ जान सकता है, साधारण मनुष्यकी वहां गति नहीं हो सकती। निरुक्तके कथन का यह तात्पर्य है। यह ही निरुक्तका 'तर्क ऋषि' है। निरुक्तकारने अपने मतकी पुष्टिके लिये निम्न मंत्र दिया है—

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु
यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः॥

अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिः
ओहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥

ऋ० १०।७१।८

(स-खायः ब्राह्मणाः) समान ज्ञानवाले ब्रह्मज्ञानी सत्पुरुष (हृदा तष्टेषु) हृदयकी सूक्ष्म शक्तियोंके विषयमें तथा (मनसः जवेषु) मनकी सूक्ष्म गतियोंके विषयमें (यत् सं यजन्ते)जो उत्तम निश्चय करते हैं (त्वे-ते) वेही (ओह-ब्रह्माणः) विचारसे ज्ञान प्राप्त करनेवाले (वि-चरन्ति) सच्चा विचार करते हैं। ये सत्पुरुष अपनी (वेद्याभिः) विविध विद्याओंसे (अत्र-अह) यहां निश्चयसे (त्वं-तं) उस अज्ञानीको (विजहुः) पीछे रखते हैं।

इस मंत्रमें किन मनुष्योंका तर्क आदरणीय होता है इसका उपदेश है। (१) उत्तम ज्ञानसे सुभूषित, (२) उत्तम (स-खायः) स्पष्टीकरण, विवरण करनेवाले, (३) तर्कसे (अह-ओह)ब्रह्मका चिंतन करनेवाले, (४) बुद्धि, हृदय, मन आदि सूक्ष्म तत्वोंके सूक्ष्म गुणधर्मोंका अनुभव जिन्होंने लिया है, (५) और (वि-चर०) निःपक्षपातसे जो सत्यासत्यका विचार कर सकते हैं, वेही सत्यविचार प्रदर्शित कर सकते हैं और उनकाही विचार आदरणीय होता है। अर्थात् मनुस्मृति, निरुक्त तथा उक्तमंत्रमें जो तर्ककी प्रशंसा की है वह तर्क विशेष ज्ञानी और निःपक्षपाती मनुष्यका है न कि सर्वसाधारण मनुष्यमात्रका। इस विशेष बातको भूलनेसे 'तर्क ऋषि' का वास्तविक उद्देश छिप गया है और हरएक समझने लगा है, कि अपने तर्कसे जो अर्थ निश्चित होगा वह ही सत्य अर्थ है।

वेदके अर्थके विषयमें लोगोंमें यह सार्वत्रिक विचार है, कि समाधिमें वेदका सत्य अर्थ ज्ञात होता है और समाधिके विना वेदका ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। परंतु वास्तविक बात और ही है। समाधिके दो भेद हैं। एक संप्रज्ञात समाधि और दूसरा असंप्रज्ञात समाधि। असंप्रज्ञात समाधि सबसे श्रेष्ठ है और यही अंतिम समाधि है। इसमें समाधिस्थ आत्माको शुद्ध आनंद प्राप्त होता है परंतु इस अवस्थामें शब्दोंका विचार, मनन अथवा शब्दोंके अर्थज्ञानका सर्वथा असंभव है। इस स्थितिमें शब्दका अस्तित्व ही नहीं प्रतीत होता। जबतक मंत्रके शब्दोंका भान होगा तब

तक असंप्रज्ञात समाधिकी अवस्था प्राप्त होती ही नहीं। शब्दादि सब विषय और प्राकृतिक विषयरहित शब्द इस असंप्रज्ञात समाधिकी अवस्थामें रहते ही नहीं। जहां शब्दका भान नहीं वहां उसके अर्थका भान किस-प्रकार हो सकता है ?

इससे निचली अवस्थाका संप्रज्ञात समाधि है। इसमें भी चित्तकी वृत्ति स्तब्ध होती है। हरएक वाक्यके उच्च नीच भावोंका विवरणसहित ज्ञान जिस अवस्थामें होगा उस अवस्थामें चित्तकी स्तब्धवृत्ति नहीं रह सकती। इसलिये इस समाधिमें भी कठिन मंत्रोंका ज्ञान होना असंभव है। निरु-क्तादि ग्रंथोंमें भी किसी स्थानपर समाधिकी अवस्थामें मंत्रोंके अर्थोंका सत्य ज्ञान होता है, ऐसा नहीं कहा। यदि आजकलका ख्याल सत्य होता तो यास्काचार्य आदि बडे बडे विद्वानोंको उसका पता अवश्य होता। किंसी ऋषिप्रणित ग्रंथमें इस प्रकारका विचार नहीं है।

चित्तकी शुद्धताके लिये योगसाधन, वृत्तिका निरोध और समाधिकी आवश्यकता है। और जिसका चित्त शुद्ध, निर्मल, निर्दोष, निःपक्षपाती और समताके भावसे युक्त होता है वह ही मनुष्य अथवा वह ही योगी वेदका अर्थ करनेके लिये योग्य होता है। इस प्रकार समाधि और वेदका अर्थ इनका परस्पर संबंध वास्तविक रीतिसे है। आजकल लोग पक्षपातसे भरे हुए रहते हैं और अपने पक्षकी और मतकी सिद्धि करनेके लिये वेदके मंत्रोंके टुकडे इकठ्ठे करते रहते हैं। इधरका एक टुकडा और उधरकी एक पंक्ति लेकर संपूर्ण वेदका यही तात्पर्य है ऐसा आग्रहसे और जोर जोरकी पुकारसे सिद्ध करनेका अट्टहास करनेमें ये लोग रहते हैं तथा जनताके अज्ञानके कारण जो अवडंवरके साथ जोशीली आवाजसे कहेगा उसीका विजय होता रहता है। परंतु यह बात थोडे ही दिनों तक चल सकती है। हमेशा के लिये जनता अज्ञ नहीं रहेगी। इसलिये इस प्रकारके जोशीले और विकारी भावोंसे किसी मतकी सिद्धि करना बहुत ही बुरा है।

जो योगी होते हैं वे निःपक्षपाती होते हैं, सत्य ही उनका पक्ष होता है, इसलिये वे ही अपने निःपक्षपातके कारण वेदका अर्थ देखनेके लिये योग्य होते हैं। अपना दृष्टिकोण पहिले निश्चित करके पश्चात् वेदका पठन-

पाठन करनेसे कभी वेदका सत्य अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता। वेदके अंतर्गत प्रमाणोंसे मंत्रका सरल अर्थ जो होगा उससे ही सबका दृष्टिकोण निश्चित होना उचित है। इसके विपरीत जो होता है वह सब अंतमें बाधक होनेवाला है।

संपूर्ण वेदका अध्ययन करनेके पूर्व ही वैदिकधर्मके लक्षण करनेके हास्यास्पद प्रयत्न कइयोंनें किये हैं। कई लक्षण वेदके ऊपर घटते हैं या नहीं इसकी पडताल भी नहीं की जाती। क्या यह आश्चर्य नहीं है? क्या इस प्रकारकी अंदाधुंदी किसी अन्य धर्ममतके विषयमें हो गई है?

शास्त्रार्थोंमें आह्वानोंपर आह्वान किये जाते हैं। जिस समय कोई मनुष्य शास्त्रार्थ करनेके लिये वेदीपर खडा होता है, उस समय उसको संपूर्ण वेद कंठस्थ और उपस्थित हैं, ऐसा बताया जाता है। यदि विद्वानोंको परमेश्वरकी थोडी भी भीति होगी तो असत्य बोलनेसे वे डर जांयगे। इस समय गुरुकुलों और पाठशालाओंमें संपूर्ण वेदकी पढाई करानेवाले सुयोग्य पंडित, जो चारों वेदोंको प्रारंभसे अंत तक जानते हैं, नहीं प्राप्त होते। परंतु शास्त्रार्थकी वेदीपर खडे होकर संपूर्ण वेदके मंत्रोंमें यह बात निश्चयसे नहीं है, ऐसा कहनेवाले सेंकडों हैं। प्रतिपक्षीद्वारा प्रस्तुत किया हुआ कोई मंत्र अपने मतके अनुकूल ही है ऐसा एक क्षणमें ही बताया जाता है। क्या यह आश्चर्य नहीं है? क्या यही तर्क है कि जो भगवान् यास्काचार्यजीने अपने निरुक्तमें कहा था? क्या ऋषि और मुनियोंकी यही संमति थी? यह बात पाठकोंको अवश्य सोचनी चाहिए।

यदि वेदका संपूर्ण अध्ययन नहीं किया है तो वैसा ही सभामें स्पष्ट कहनेका धैर्य चाहिए। जितना अध्ययन हुआ है उतनेमें ही शास्त्रार्थ हो सकता है। अनधीत विषयमें शास्त्रार्थोंके आह्वान केवल धोखेबाजीके हैं। वास्तवमें इस समय संपूर्ण भूमंडलपर अखिल वेद मंत्रोंकी यथावत सत्य व्याख्या करनेवाला एक भी मनुष्य नहीं है। यदि होता तो इस भूमंडलके मनुष्योंकी अवस्था इससे बहुत ऊंची होती। इस समयके वेदव्याख्याता प्रयत्न करनेके ही अधिकारी हैं। इससे अधिक सुफलताकी इच्छा करना अत्यंत असंभवनीय है।

यदि इस समय निःपक्षपातसे प्रयत्न हो गये तो वेदका अर्थ करनेके साधन एकत्रित किये जा सकते हैं। वेदका अर्थ निश्चित करनेके लिये श्रुतियोंके समान विषयके सब वाक्य एकत्रिक और विषयानुकूल संग्रहीत होने चाहिए। यही एक कार्य करनेके लिये बीसियों निःपक्षपाती पंडितोंका प्रयत्न आधी शताब्दी तक होनेकी आवश्यकता है। उसके पश्चात् सत्य अर्थ प्रकाशनका कार्य प्रारंभ करनेकी योग्यता आ सकती है। निरुक्तने 'श्रुतितः तर्कतः' ये दो शब्द रखे हैं। श्रुतिप्रमाणोंका संग्रह करना पहिला काम है। श्रुतिप्रमाण इकट्ठे हो जानेपर उनके आधारसे तर्क हो सकता है। परंतु यदि श्रुतिप्रमाण एकत्रित न होंगे तो तर्क कहांसे और किस आधारपर किया जा सकता है? एक एक विषयके संपूर्ण वेदके मंत्र एकत्र संग्रहीत करनेका कार्य बडा विकट है और इस समय तक किसीने प्रारंभ ही नहीं किया है। प्रारंभ किसप्रकार हो सकता है? इतने पंडितोंका इतने वर्षोंतक व्यय कौन चलायेगा? यह अवस्था है श्रुतिप्रमाण की। परंतु 'तर्क' हरएकके पास है और हरएक उसको उपयोगमें ला सकता है। काम निकले या न निकले। जो होगा सो होगा। तर्ककी कुठार विना वैदिक प्रमाणोंसे यदि चलेगी तो अविश्वास फैलेगा। यही आजकल हो रहा है परंतु विद्वान् लोग सोचते नहीं। इसलिये वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे तर्क करनेके पूर्वकी तैयारी पहिले करें। तभी उनको ठीक मार्ग प्राप्त हो सकता है।

पुराण और वेद।

पुराणोंका वेदसे कोई संबंध है या नहीं; यह बडा गहन प्रश्न आज कई दिनोंसे वेदाभ्यासी सज्जनोंके सन्मुख खडा है। पुराणप्रिय लोग, सब उपलब्ध पुराण जैसे आज मिलते हैं, वैसे ही सत्य हैं, और वे सब व्यास महर्षिके ही लिखित हैं, ऐसा विश्वास धारण कर रहे हैं। इन पुराणप्रिय लोगोंके साथ मुकावला करनेवाले सुधारणाप्रिय लोग आग्रहके साथ कह रहे हैं, कि सब पुराण गपोडे और मनःकल्पित अतएव मिथ्या हैं।

जो लोग चिकित्सक बुद्धिसे विचार कर सकते हैं, तथा शांतिके साथ तत्वका अन्वेषण करनेकी शक्ति धारण करते हैं, विकारवशतासे केवल खंडन अथवा दुराग्रहसे केवल मंडन करनेमें जिनकी प्रवृत्ति नहीं है, उनको उक्त दोनों मत पसंद नहीं होसकते। पहिला पुराणप्रियोंका कथन अंधविश्वाससे जैसा परिपूर्ण है, उसी प्रकार दूसरे सुधारणाप्रियोंका मत दुराग्रहसे परिपूर्ण है। अंधविश्वास भी हमें नहीं चाहिए और दुराग्रहसेभी दूर रहना हमको अत्यंत आवश्यक ही है, क्योंकि **"सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करना"** हमारा कर्तव्य है। विद्वानोंके सब प्रयत्न सत्यासत्यनिर्णयके लिये ही होने आवश्यक हैं। जहां अंधविश्वास अथवा दुराग्रह रहेगा वहां सत्यका उदय नहीं हो सकता। इस लिये चिकित्सक बुद्धिसे इसका विचार करना आवश्यक है।

१८ पुराण, १८ उपपुराण, रामायण, महाभारत की कथाएं, तंत्रकारोंके सेंकड़ों आगमग्रंथोंकी कथाएं, कुराण, बाइबिल, ग्रीक लोगोंके गाथा ग्रंथ, पार्सीयोंके गाथा और अवस्था ग्रंथ, इजिप्शियन लोकोंके कथाभाग और खाल्डियन लोकोंके गाथा ग्रंथ इत्यादि ग्रंथ इस भूमिपर आज उपलब्ध हैं। इन सब ग्रंथोंमें कई कथाएं प्रायः एक जैसीं हीं हैं। **(१) आदम और हव्वाकी कथा, (२) प्रलयकालके मनुकी कथा** आदि सेंकड़ों कथाएं प्रायः सब जातिकी गाथाओंमें विद्यमान हैं। एक नहीं

दो नहीं सैंकडों कथाओंका सर्वत्र एकरूप होना बता रहा है, कि इन सबका किसी एक केंद्रमें उद्भव है।

कौनसा वह केंद्र है कि जहांसे इन सब कथाओंका उद्भव होगया है? क्या इसका शांतिके साथ विचार करना हम सबके लिये योग्य नहीं है? अंधविश्वाससे मंडन करनेवाले अपना कार्य करते रहें, दुराग्रहसे खंडन करनेवाले बेशक अपना खंडनका कार्य करें, हमें पूरा विश्वास है कि उक्त प्रकारका खंडन और मंडन चिरकाल टिकनेवाला नहीं हो सकता। जो शांतिके साथ सत्यासत्य निश्चय होगा वह ही चिरकाल रहेगा। इसलिये विकारवश मतोंकी पर्वाह न करते हुए हमको शांतिके सुविचारके साथ सत्यका आश्रय करनेकी उत्कट इच्छासे ही प्रयत्न करना चाहिए।

यदि सब पौराणिक कथाएं केवल हिंदुस्थानके लोगोंकी "कपोल कल्पित कल्पनाएं होतीं" तो पांच छे हजार वर्ष पूर्वही उनका प्रचार सब जातियोंकी गाथाओंमें न होता। कौनसीं कथाएं सब जातिकी गाथाओंमें समान हैं? कौनसीं विकृतरूपमें हैं? और कौनसीं खास खास जातिमें ही हैं? इनका यथायोग्य विचार अबतक किसीने नहीं किया है। इस लिये सब कथाओंके विषयमें निश्चयरूपसे यहां कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

युरोपके पंडित एक एक बातको लेकर उसकी [illegible] तलाश करनेके कार्यमें बडे चतुर हैं। परंतु उनका कार्य पूर्वग्रहसे दूषित होनेके कारण सदा सर्वदा माननीय नहीं हो सकता। उदाहरणके लिए एकही बात लीजिए कि युरोपीयन पंडितोंका एक मत ऐसा भी है, कि कोई वेदका मंत्र तीन हजार वर्ष पूर्वकालका नहीं है। क्या यह मत कभी स्थिर रह सकता है? इसी प्रकार उनके वेदविषयक और पौराणिक कथाभागोंके विषयमें विलक्षणही मत हैं। यद्यपि उनकी कार्य करनेकी रीति अत्यंत उत्तम है, तथापि उनमें वैदिक रीतिसे विचार करनेका भाव ही न होनेके कारण उनके सब प्रयत्न प्रायः निष्फलसे हो रहे हैं!!!

परंतु उनको दोष देनेकी अपेक्षा जब हम अपने देशवासियोंके प्रयत्नोंकी ओर देखते हैं, तब हमें निःसंदेह लज्जित होना पडता है। अंधविश्वास, दुराग्रह, हठ आदिकोंसे रहित केवल सत्यान्वेषण बुद्धिसे प्रेरित

होकर कितने लोग यहां कार्य कर रहे हैं ? जो कार्य हो रहा है, वह किसी न किसी मतके आधीन होकर ही किया जा रहा है। मतका अभिमान सबसे मुख्य और सत्यासत्य निर्णय गौण, यह बात भी कम दूषणीय नहीं है। अपने मतकी दृष्टिसे ही देखनेका भाव यहां जबतकप्र बल रहेगा, तब-तक कोई सत्यान्वेषणका कार्य यहां चल हीन हीं सकता। उदाहरणके लिये प्रस्थानत्रयीके ऊपरके चारों आचार्योंके भाष्य और उनके अनुयायियोंके टीका टिप्पणियोंके ग्रंथ देखिए। कैसे झगडे इन विद्वानोंनें विनाकारण खडे किये हैं ? यही प्रणाली इस समय तक चल रही है। ग्रंथका हृद्गत देखनेकी ओर दृष्टि नहीं है, परंतु अपने ही निश्चित मतकी कुठारसे जो कुछ तोडमोड हो सकती है, वह ही करनेकी ओर जोरसे प्रयत्न हो रहे हैं।

तात्पर्य युरोपके प्रयत्नमें यदि इस समय एक दोप प्रबल हो रहा है, तो हमारे यहांके प्रयत्नोंमें भी दूसरा दोप पूर्वकालसे ही प्रबल है। इन दोपोंके होते हुए यद्यपि विशिष्ट मतका खूब प्रचार हो सकता है, तथापि सत्यका ग्रहण और असत्यका परित्याग कदापि नहीं हो सकता। इस बातका विचार सुविचारी सज्जनोंको शांतिके साथ करना चाहिए।

कई विद्वान पंडितोंके लेख हमनेदेखे हैं, कईयोंमें पौराणिक कथाओंका खूब खंडन है, तो कईयोंमें आगमकी गाथाओंका भ्रांत मत बताया है, कइयोंका पक्ष यह है कि, हम अपना खंडन उसी ग्रंथके प्रमाणोंसे कर सकते हैं, तो दूसरे लिख रहें हैं कि हम वेदकी कसौटीसे अपना खंडन कर सकते हैं!!

खंडनके लेख कई पाठकोंको कदाचित् रुचिकर प्रतीत होंगे, परंतु सच्ची धर्म जागृतिसे प्रतिदिन खंडन प्रियता कम ही होगी और सत्यग्रहण शक्ति बढ़ती जायगी। दूसरोंके सब मकान तोड देनेसे हमारा मकान बन नहीं सकता, इसी प्रकार दूसरे सब ग्रंथोंका खंडन होनेसे अपने वेदको हम जान रहे हैं यह बात कदापि सिद्ध नहीं हो सकती। और यदि वेदकी कसौटीसे ही अन्य मतमतांतरोंके विचारोंका खंडन मंडन करना होगा तो उस कार्यके लिये आद्योपांत वेदमंत्रोंका यथासांग अध्य-यन होनेकी आवश्यकता निःसंदेह है। वेदका पूर्ण अध्ययन होनेके पूर्व ही जो खंडन मंडन हो रहे हैं, वे उतनी ही योग्यता रखते हैं, कि जितनी

योग्यता कसौटीके साधनोंकी अनुपस्थितिमें सुवर्णपरीक्षा की हो सकती है। सब लोग उत्तम रीतिसे जान रहे हैं, कि इस समय चारों वेदोंका ज्ञाता एक भी नहीं है, इस अवस्थामें सबसे पहिला कार्य यही होना चाहिए, कि हम अपनी सब शक्ति वेदको सुपाठ्य और सुबोध करनेके लिये समर्पित करें। जब हमारी यह कसौटी हमारे पास प्राप्त होगी, तब हम अन्य मतोंकी समालोचना उत्तम प्रकार कर सकते हैं। तब तक ढोंगी बननेके विना हम खंडन मंडन कैसा कर सकते हैं? इस बातका विचार शांतिके साथ सबको करना चाहिए।

इस लेखमें पुराणोंका अभ्यास करनेकी रीतिका विचार करना है। यह विचार इसलिये प्रस्तुत किया जाता है, कि जो पुराणोंका खंडन मंडन करना चाहते हैं, उनको विदित होवे कि अपने लेख लिखनेके पूर्व किस प्रकार साधन सामग्री इकट्ठी करनी चाहिए। तथा उन कथाओंका वेद मंत्रोंके तत्वज्ञानसे किस प्रकार संबंध देखना चाहिए।

पौराणिक कथाएं अलग नहीं हैं, उनका संबंध जगतके सब जातियोंके गाथा ग्रंथोंके साथ है। प्रथमतः यह संबंध निश्चित रीतिसे ज्ञात होना चाहिए। जो कथाएं सब संसारकी सब जातियोंकी गाथाओंमें प्रचलित हैं, उनको अलग करना चाहिए और उनका अभ्यास विशेष रीतिसे होना चाहिए। हिंदुस्थानमें जो प्रचलित पुराण, उपपुराण, तांत्रिक आगम और अन्य गाथाएं हैं उनका एकीकरण सबसे प्रथम होना उचित है। इस एकीकरणके ग्रंथमें एक एक कथा विभिन्न ग्रंथोंमें किस प्रकार परिवर्तित हुई है, इसका संग्रह विना टीका टिप्पणीके होना चाहिए। उदाहरणके लिये वृत्रकी कथा लीजिए। यह कथा सब पौराणिक वाङ्मयमें कैसी है, किस ग्रंथमें कौनसी विशेषता है और किसमें कौनसी न्यूनता है इसका एक स्थानपर उल्लेख होना चाहिए। तत्पश्चात् इस कथाका रूपांतर अन्य देशांतरोंकी गाथाओंमें किस रीतिसे हो गया है, इसका पूर्ण वर्णन चाहिए। जो कथा सब जातियोंकी गाथाओंमें एकरूपमें होगी, उसका मूल निःसंदेह वेदमें मिल जायगा और उसका परीक्षण वैदिक मूल कल्पनासे ही करना आवश्यक है। जो कथा इस प्रकार सार्वत्रिक होगी वह हिंदुस्थानके पौराणिकोंकी कपोल कल्पित कभी मानी नहीं जा सकती। इस प्रकारकी

कथाओंका विचार अधिक सूक्ष्म दृष्टिसे करना उचित है । और जबतक पूर्वोक्त साधन एकत्रित न होंगे तबतक उन कथाओंका विचार भी ठीक प्रकार नहीं हो सकता ।

कथाओंका दूसरा वर्ग वह है कि जिसमें उस प्रकारकी कथाएं रखी जा सकतीं हैं, कि जिनमें पौराणिक कथाओंका विकृतरूप देशदेशांतरके गाथा-ग्रंथोंमें मिल सकता है । इस प्रकारके कथाओंका भी मूल वेदमें उपलब्ध हो सकता है। और इन कथाओंका विचार भी पूर्वोक्त सार्वभौमिक दृष्टिसेही करना उचित है ।

उक्त दो वर्गोंमें जो जो कथाएं आतीं हैं वह ही सबसे अधिक महत्व रखतीं हैं । वेदका वैदिक धर्म इस भूमंडलपर सर्वत्र था, इस प्राचीनतम दिव्य कालकी साक्षी उक्त कथाएं इस समय भी दे सकतीं हैं । वेदका वैदिक धर्म अत्यंत प्राचीन समयमें सब भूमंडलपर प्रचलित था । इस प्राचीन समयमें कोई भी जाति वैदिक कल्पनासे वंचित न थी । तत्पश्चात् शनैः शनैः प्रचारकोंके अभावके कारण देशदेशांतरोंमें वैदिक धर्मकी जागृति नष्ट हो गई, परंतु वैदिक धर्मके संस्कार उनके अंदर शेष रहे । वेदमें वृत्रकी जो जो बातें थीं तथा अन्य जो जो विषय थे, वे सब अथवा उनमेंसे थोडे संस्कारमात्रसे उनमें शेष रहे । इस स्मृतिसे जो कथा गाथा आदि बनी वही सब देशोंमें समान दिखाई दे रही है । इसलिये इन कथाओंके अभ्याससे उस वैदिक समयका अनुमान हो सकता है, कि जिस समय वैदिक धर्म सार्वदेशिक था । तथा इनका वेदके साथ संबंध देखनेसे वेदके गुह्यका भी ज्ञान होनेमें बडी सुगमता हो सकती है ।

इस विवरणसे एक यह बात निश्चित हो सकती है, कि जिन कथाओंकी स्थिति सर्व जातियोंकी गाथाओंमें है, कमसे कम उन कथाओंका गुण अथवा दोष हिंदुस्थानके पुराण लेखकोंके पास नहीं आ सकता । उक्त कथाओंकी स्मृति इस देशके आर्यवंशजोंमें जिस प्रकार शेष रही थी, उस प्रकारका लेख उन्होंनें लिखकर रखा है । लेखक कवि होते हैं और कवि लिखनेके समय अपनी बातको मिलाते, बढाते और घटाते भी जाते हैं । इस स्वाभाविक प्रवृत्तिका विचार हमको यहां करनेकी आवश्यकता ही नहीं ।

क्योंकि इस प्रवृत्तिका परिणाम सब जातियोंकी गाथाओंपर एक जैसा ही हो गया है। इन कथाओंका विचार करनेके समय कथाओंके सामान्य स्वरूपका ही विचार करना होगा। क्योंकि सब कथाओंमें जो सामान्य स्वरूप होगा वह ही मूल वैदिक हो सकता है, इसको छोडकर जो मिलावट होगी वह उन लेखकोंकी होगी। इस प्रकार विचार करनेसे इन गाथाओंमें किस जातिनें कौनसी मिलावट की है और उसका मूलरूप क्या था, इसका भी स्वयं पता लग सकता है। और इस प्रकार सब बातें जब सन्मुख रहेंगीं, तब उस परिणामका स्वीकार हरएकको करना ही होगा। क्योंकि इस प्रकार किया हुआ खंडन अथवा मंडन दुराग्रहसे दूषित नहीं होगा, परंतु सत्यग्रहणसे ही होगा।

इन कथाओंके तीसरे वर्गमें उन कथाओंको रखना होगा कि जिनका संबंध एक एक जातिके साथ ही होगा। इस वर्गकी कथाओंका विचार करनेकी हमको कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि बहुधा इन कथाओंका संबंध वेदमंत्रोंसे नहीं होगा। जो कपोलकल्पित गाथाएं हुआ करतीं हैं उनका लक्षण यह ही है। परंतु तब तक ऐसी कथाओंको पृथक् करना कठिन है, कि जब तक पहिले दो वर्गकी कथाओंका संग्रह न हुआ होगा। पूर्वोक्त दो वर्गोंकी कथाएं एकत्रित होनेके पश्चात् जो शेष रह जायगीं वह स्थानिक कथाएं होंगी। स्थानिक लोग ही उनका विचार कर सकते हैं।

जो विद्वान पौराणिक कथाओंका विचार करना चाहते हैं उनको उचित है कि वे सबसे प्रथम इस प्रकारके साधन ग्रंथकी तैयारी करें। यदि सब संसार-भरकी कथाओंका विचार और संग्रह नहीं हो सकता, तो कमसे कम पुराणों और उपपुराणोंमें जो कथाएं हैं उनका उक्त प्रकार संग्रह यहां ही हो सकता है। इस कार्यके लिये एक एक विद्वानको एक एक पुराणका अभ्यास करनेके कार्यमें अपने आपको समर्पित करना चाहिए, जब एक एक पुस्तकका अध्ययन उत्तम रीतिसे समाप्त होगा, तब उसकी उत्तम विषय सूची बनाई जा सकती है और पश्चात् उक्त प्रकारका कथासंग्रह उक्त वर्गोंके अनुसार बनाया जा सकता है।

पाठकोंको तथा लेखकोंको यहां विचार करना चाहिए कि कथाओंका

खंडन मंडन होनेके पूर्व इस प्रकार यथासांग विचार होनेकी आवश्यकता है या नहीं। तथा जो खंडन अथवा जो मंडन इस प्रकारकी व्यवस्था करनेके पूर्व हो रहा है उसका क्या फल हो सकता है ?

हां, जो कहेंगे कि हमें इस प्रकार अपनी शक्ति पौराणिक कथाओंकी संगति करनेमें क्यों लगानी चाहिए, उनको इतना ही कहना है, कि यदि उत्तम व्यवस्थापूर्वक विचार करनेके पूर्व ही खंडन मंडन करना उनको अच्छा लगता है, तो वे सज्जन वैसाही करते रहें। उनको कौनसी शक्ति प्रतिबंध कर सकती है ? परंतु वास्तविक रीतिसे देखा जायगा, तो वह शक्तिका अपव्यय है। हमारे पास शक्ति अल्प है, इसलिये योग्य दिशासे ही उसको लगा कर चिरस्थायी कार्य ही करनेमें प्रवृत्त होना चाहिए। साधारण जनोंको प्रिय लगता है, इस लिये ही केवल खंडन मंडन करके शक्तिका अपव्यय करें इतनी बडी शक्ति हमारे पास नहीं है। क्या सुविचारी विद्वान् इस बातका विचार नहीं करेंगे ?

पौराणिक कथा लेखकोंकी प्रतिज्ञा है कि हम वेदका गुप्त उपदेश कथाओंके मिषसे लोगोंको दे रहे हैं।—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ॥

श्री. भागवत । १।४।२८

वर्णयंति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पते ॥

श्री. भागवत १।३।३५

"वेदमें जो गुप्त तत्व हैं उनका आविष्कार कवियोंने कथारूपके वर्णन-द्वारा किया है। भारतके मिषसे वेदकाही अर्थ बताया गया है।" पौराणिक लेखकोंकी यह प्रतिज्ञा है। यदि यह ठीक है तो उक्त रीतिसे ही पता लग सकता है, यदि असत्य है तो भी उक्त परीक्षणसे ही उसका निर्णय हो सकता है। दोनों अवस्थाओंमें उक्त प्रकारके परीक्षणकी अत्यंत आवश्यकता है।

पौराणिक कथाओंके कथाके स्वरूपसे जो तीन भेद होते हैं उनका वर्णन पूर्व हो चुका है। अब आंतरिक स्वरूपसे जो उनके भेद होते हैं उनका थोडासा स्वरूप यहां बताना है। इनके इस प्रकार निम्न भेद हो सकते

हैं (१) आध्यात्मिक, (२) चिन्हात्मक आलंकारिक, (३) आधिदैविक (४) ऐतिहासिक और (५) केवल कल्पित।

(१) आध्यात्मिक कथा—आत्मा, बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय आदिकोंका रूपक बनाकर कथाओंके रूपमें जो वर्णन होता है वह सब इस वर्गमें आता है। पुरंजन राजाकी कथा श्रीमद्भागवतमें, आदम और हव्वाकी कथा कुराण और बाइबलमें, तथा इस प्रकारकी सब अन्य कथाएं आध्यात्मिक रूपकके इस वर्गमें रखी जा सकती है।

(२) चिन्हात्मक कथा—ऊपरके आध्यात्मिक विभागके समान ही यह विभाग है। इसमें चिन्होंके रूपसे अलंकारद्वारा धर्मतत्वोंका प्रकाश करनेवाली कथाएं रखना उचित है। विष्णुपुराणमें जो भाग धर्म और अधर्मके वंशवृक्ष देनेके समय कहा गया है, उस प्रकारके कथाभाग इस वर्गमें आते हैं।

(३) आधिदैविक कथा—सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, मेघ आदि सृष्टिके अंतर्गत पदार्थोंपर रूपकालंकारसे जो कथाएं रची गई हैं उनका संग्रह इस वर्गमें हो सकता है। शंबरासुर आदिकी कथाएं इस वर्गमें रखने योग्य हैं।

इन तीन वर्गोंका वेदके मंत्रोंके साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। इन कथाओंके मूल वैदिक भावका स्पष्ट संबंध वेदमंत्रोंमें है और सुगमतासे इस बातका आविष्कार किया जा सकता है। जो थोडीसी मेहनत कर सकते हैं वे इन कथाओंका मूल वेदमें देख सकते हैं। मूलमंत्र देखनेसे इन कथाओंको किस प्रकार पढना और समझना चाहिए तथा इनमें किस बातका कथन किया है, इसकी स्पष्टता हो सकती है। हम यहां यह नहीं कहते हैं कि इस प्रकार करनेसे सब कथाओंका खंडन अथवा मंडन हो सकता है। इस लेखके लेखकके सन्मुख इस समय खंडन मंडनका प्रश्न ही नहीं है, परंतु खंडन अथवा मंडन करनेके पूर्व जिस प्रकारकी तैयारी होना आवश्यक है, उस प्रकारकी तैयारीका ही यहां विचार किया जा रहा है। इस प्रकार उत्तम अभ्यास होनेके पश्चात् जो खंडन अथवा मंडन होगा वह सब विद्वानोंको आदरणीय हो सकता है, इतना ही इस कथनका तात्पर्य है।

इनसे भिन्न (४) ऐतिहासिक और (५) काल्पनिक कथाओंके वर्ग हैं, इनका वेदके साथ कोई संबंध नहीं है। उक्त विभागोंको पृथक् करनेसे जो कथाभाग शेष रह सकते हैं, उनका समावेश इन दो वर्गोंमें हो सकता है। अस्तु। इस प्रकार पौराणिक कथाओंका अभ्यास करनेकी रीति है। इस रीतिसे अभ्यास करनेके पश्चात् वेदमंत्रोंके विधानोंसे कथाओंकी तुलना हो सकती है और सत्यासत्यका ठीक ठीक निर्णय हो सकता है। आशा है कि पाठक इस लेखका विचार करेंगे।

वेदोंके साथ पुराणोंका संबंध निश्चित करनेके लिये जिस प्रकार पुराणोंके कथाभागोंके वर्ग करना चाहिए, उसी प्रकार वेदमंत्रोंको भी देवताक्रमसे पढना चाहिए। अर्थात् अग्नि, इंद्र, सूर्य आदि प्रत्येक देवताके मंत्र अलग अलग करके, एक एक देवताके मंत्रोंका अलग अलग अभ्यास करना चाहिए। वेदमंत्रोंके आधारपर बहुतसे श्लोक पुराणोंमें रचे गये हैं। इनमें कई श्लोक बिलकुल स्पष्ट हैं और कई अस्पष्ट हैं। जो स्पष्ट हैं उनको नमूनेके लिये यहां धर देता हूं, जिससे पाठक भी इस दृष्टिसे निरीक्षण कर सकते हैं—

(१)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥

ऋ. १०।९०।१

पश्यंत्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्॥
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यंबरकुंडलोल्लसत्॥

श्री. भागवत. १।३।४

इस श्लोकमें पूर्वोक्त मंत्रका ही प्रतिबिंब है। जो बात श्लोकके लेखकने बढाई है वह भी इसमें स्पष्ट दिखाई देती है। तथा—

(२)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः॥
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

ऋ. १०।९०।१२

ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रुरंघ्रिश्रितकृष्णवर्णः ॥

श्री. भागवत. २।१।३७

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ॥
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥

श्री. भाग. २।५।३७

(३)

चंद्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ॥
मुखादिंद्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥
नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ॥
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन् ॥

ऋ. १०।९०।१३, १४

इंद्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ॥
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गंधो मुखमग्निरिद्धः ॥ २९ ॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतंगः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ॥

श्री. भागवत २।१।२९,३०

(४)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥

ऋ. १०।९०।२

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥

श्री. भागवत. २।६।१५

(५)

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

ऋ. १०।९०।१

तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥

श्री. भागवत. २।६।१६

(६)

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ॥
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥

ऋ. १।१५४।१

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ॥
चस्कंभ यः स्वरंहसाऽस्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात्रिसाम्यसदनादुरुकंपयानम् ॥
श्री. भागवत. २।८।४०

(७)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ॥
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥
य. ४०।६

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ॥
अपश्यन्त्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥
श्री. भागवत. ३।२५।४६

अस्तु । इस प्रकार सहस्रों श्लोक ऐसे बताये जा सकते हैं कि जो वेद मंत्रोंका रूपांतर ही हैं । मेरे ख्यालसे ये श्लोक पौराणिक कथाओंका मूल वैदिक स्वरूप बतानेका उत्तम कार्य कर सकते हैं । जब इस प्रकार फलाने वैदिक मंत्रोंके मूलसे फलानी पौराणिक गाथा बन गई है ऐसा पूरा पूरा निश्चय हो जायगा, तब कथाओंके ग्राह्य और अग्राह्य अंशका ठीक ठीक निश्चय हो सकता है। केवल एक या दो मंत्रोंको देखने मात्रसे यह कार्य नहीं हो सकता, कथाकी मुख्य सब बातोंका संबंध वेदमंत्रोंमें देखनेके पश्चात् ही निर्णय किया जा सकता है ।

वेदमंत्र और पुराण कथाओंके बीचमें ब्राह्मणग्रंथकी गाथाएं हैं । इन तीनोंकी संगतिसे ही प्रत्येक कथा किस प्रकार बढती गई, इस बातका ठीक ठीक पता लग सकता है । जो विद्वान खोजकी दृष्टिसे पौराणिक कथाओंका खंडन मंडन करना चाहते हैं, वे यदि इस प्रकार प्रयत्न करेंगे तो जनताको बडा लाभ हो सकता है । आशा है कि सुविचारी विद्वान् इस लेखका योग्य विचार करेंगे ।

भाष्यकारोंका मतभेद ।

कई लोक वारंवार पूछते हैं, कि वेदके अर्थ करनेमें निश्चितता क्यों नहीं है ? प्रत्येकके अर्थमें भिन्नता क्यों है ? एक ही अर्थ निश्चित क्यों नहीं किया जाता ? अनेक अर्थ और शब्दार्थोंके अनंत झगडे होनेसे भ्रम उत्पन्न होता है । इस भ्रमका निराकरण करनेके लिये कोई मार्ग ढूंढना चाहिए । प्रतिदिन यह भ्रम बढ रहा है ।

अर्थके झगडोंके विषयमें इस प्रकार प्रश्न पूछते हैं । परंतु ये सज्जन एक बात भूलते हैं । यह शब्दार्थोंका झगडा केवल वेदके विषयमें ही नहीं है परंतु यह सार्वत्रिक और सार्वदेशीय है । ख्रिस्ती धर्मग्रंथ–पवित्र बैबल–के विषयमें भी इसी प्रकार शब्दार्थोंके झगडे हैं, और एक इसाई एक वाक्यका एक अर्थ करता है, तो दूसरा दूसरा ही समझता है । महात्मा येशू ख्रिस्तके होने न होनेका भी झगडा इस समय तक चला है ।

मुसलमानी धर्मके पवित्र कुरानके विषयमें भी इसी प्रकार अर्थके झगडे हैं । आजकलके सर सय्यद अहमद महोदयजीके कुरान शरीफके तर्जुमे प्राचीन परंपराको माननेवाले मुसलमान नहीं मानते । यह प्रकार अहम-दियोंके अर्थोंका है । इसके अतिरिक्त भी "अल्कुरान" के अर्थ विषयक मतभेद सैंकडों हैं ।

बुद्ध और जैन धर्मग्रंथोंकी एकवाक्यता और संगति करनेमें भी कम मतभेद नहीं हैं । यह बात होगई प्राचीन धर्मोंके विषयमें । परंतु आजक-लके आधुनिक ग्रंथोंके विषयमें भी विविध अर्थोंके अनंत भेद हैं । कविशि-रोमणि शेक्सपीयरके साधारण नाटकोंकी पंक्तियोंकी संगति लगानेमें भी इस समय बडे बडे विद्वानोंमें प्रबल मतभेद हैं । और हरएक अपनी अपनी रीतिसे संगति लगाता है, और प्रमाण भी देता है । आजकलके (law books) सरकारके कायदेकानूनोंके पुस्तकोंकी पंक्तियां और वाक्योंके

शब्द, वकील, बैरिस्टर और जज किस प्रकार भिन्न भिन्न रीतिसे अर्थका आविष्कार करके, भिन्नार्थक बता देते हैं, यह बात वकीलोंके कार्योंके साथ संबंध रखनेवाले उत्तमतासे जानते ही हैं। इस प्रकार शब्दार्थका मतभेद सार्वत्रिक है।

जो मनुष्य इस प्रकार शब्दार्थविषयक मतभेदकी सार्वत्रिकता अनुभव करते हैं, वे कभी वेदके मतभेदसे चक्कर नहीं खा सकते। परंतु जो लोग अन्य स्थानके मतभेदको नहीं जानते, वे ही घबरा जाते हैं। उनको यह बडा विघ्न प्रतीत होने लगता है, और कई भद्र पुरुष इसी कारण वैदिक धर्मके विषयमें उदासीन भी हो गये हैं। परंतु यह सब "अज्ञानका खेल" है।

जो पुरुष वेदके हद्दतको जानते हैं, और वैदिक शैलीके साथ परिचित हुए हैं, उनके मनमें अर्थका भेद होनेसे घबराहट नहीं होती। यहां मैं इतना कहना चाहता हूं कि, जितना अन्य धर्मग्रंथों और अन्य पुस्तकोंके विषयमें आजकल भी अर्थके विषयमें मतभेद है, उतना वेदके विषयमें नहीं है, और न आयंदा रहेगा। वेदकी शैलीको जाननेवालेके सन्मुख "अर्थकी भिन्नता" यह "विरोधका चिन्ह" नहीं है। आजकल लोग समझते हैं, कि अर्थका भेद होनेसे "विरोध" हो गया है। तथा आज-कल कइयोंका यह भी विचार है, कि दो भिन्न अर्थ एक दूसरेके खंडनमें ही होते हैं। ये तथा इस प्रकारके आज कलके सब मत वैदिक शैलीकी अज्ञानता बतानेवाले हैं। वैदिक शैलीसे बिलकुल अनभिज्ञ, परंतु वेदका व्याख्यान करनेवाले तथा वैदिक धर्मका हठसे अभिमान व्यक्त करनेवाले जो होते हैं उनका उक्त मत होता है।

वास्तवमें इस मतका विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि थोडे सालोंके पश्चात् जबकि वेदकी पढाई ठीक प्रकारसे हो जायगी, और जब वैदिक-प्रतिपादन-शैलीके साथ लोग परिचित हो जांयगे; तब यह शंका स्वयं नष्ट हो जायगी। और जो आज दोष समझा जाता है, वह गुणमें परिवर्तित हो जायगा। उदाहरणके लिये देखिए कि वेदकी मंत्रसं-ख्याके विषयमें एक विद्वान सज्जनका एक लेख ७।८ वर्षके पूर्व प्रसिद्ध

हुआ था, जिसमें उन्होंने बताया था कि भिन्न आचार्योंकी मंत्रसंख्या भिन्न है, इसलिये वेद प्रामाणिक नहीं है। उक्त लेखक इतना कह कर ही रहे नहीं, परंतु वे वैदिक धर्मके विषयमें पूर्ण उदासीन बन गये!!!

इसमें आश्चर्य इतना ही है, कि संशोधन करनेके पूर्व ही "अपने मतकी घमंड" धारण करनेकी प्रवृत्ति जो बढ रही है, वह कितना घात कर रही है, इसका कोई भी किंचिन्मात्र विचार नहीं करता। संशोधन और अभ्यास करनेके पूर्व ही "मेरा मत" ऐसा है ऐसा लिखनेका शौक बढ रहा है इसका यह परिणाम है। मंत्र संख्याके विषयमें यहां इतना ही लिखना है कि आजकलके यजुर्वेद आदि वेदोंकी मंत्र संख्याके विषयमें जो जो न्यूनाधिक संख्याएं प्रचलित हैं, वे सब बिलकुल ठीक हैं। स्वाध्याय मंडलमें सब संख्याओंकी पद्धतिके अनुसार गिनती की गई है, और उसका यही परिणाम निकल आया है कि सब संख्याए बिलकुल सत्य हैं। समझनेवालोंकी बडी भूल होगई, इसलिये अपने ही अज्ञानके कारण उनकी प्रवृत्ति वैदिक धर्मसे विमुख होकर अपना ही घात करनेमें होगई।

पाठक यहां पूछेंगे कि एक ही ग्रंथके मंत्रोंकी संख्याएं किस प्रकार भिन्न हो सकतीं हैं? उत्तरमें निवेदन है कि गणनाके प्रकार भिन्न होते हैं—

(१) ३२ अक्षरोंका एक मंत्र मानकर कइयोंकी गणना है।
(२) प्रतीकोंको भिन्न मंत्र मानकर कइयोंकी गणना है।
(३) अभ्यस्त मँत्रोंको एक ही वार मानकर कइयोंकी गणना है।
(४) कई आधे मंत्रोंको भी भिन्न मानकर कई गणना करते हैं।

इस प्रकार एक ही पुस्तकके पद्योंकी संख्या भिन्न हो सकती है। इस बिलकुल साधारण बातको न समझनेके कारण मंत्रसंख्याका भेद देखतें ही "हम वेदको नहीं मानते," ऐसा कई कह देते हैं! अब पाठक जान सकते हैं, कि इसमें, दोप किसका है? गिनतीकी रीति न जाननेवालोंका दोप है अथवा वेदका दोष है? स्वयं अपना दोप होते हुए, वेदको दूषित समझना और उसके तत्वज्ञानको त्याग देना; इससे वेदकी कोई हानि नहीं है, परंतु इसमें उनकी ही अधोगति है। क्यों कि आत्माके उद्धारके लिये जो साधन वेदमें दिये हैं, तथा योगमार्गसे जो अनुभव

और उच्च भूमिकाओंमें प्रवेश आदि होना है, उससे वे ही वंचित हो गये हैं ।

यही प्रकार अर्थभेदसे उदासीन होनेवालोंका है । स्वयं १०।१२ वर्ष अच्छा अभ्यास करनेके पूर्वही वेदके विषयमें अपना मत ठोक देनेसे अर्थके भेद अधिक भयानक हो रहे हैं । प्रतिदिन यह अनवस्था बढ रही है । परंतु "वेद-समन्वय" आदि पुस्तक बनानेके विषयमें कोई सभा अथवा संघ तैयार नहीं होता । हर एक विषयके वाक्य संपूर्ण वेदोंसे चुन चुनकर एकत्रित करनेके पश्चात् कोई कठिनाई नहीं है । इस प्रकारका वेदसमन्वय २।४ पंडित आठ दस वर्ष तक प्रयत्न करेंगे तो हो सकता है । यह कोई असंभव बात नहीं है । परंतु इस कार्यके लिये रचना करनेका व्यय १५।२० हजार रु. तथा उतना ही छपाईके लिये लगेगा । प्रश्न इतना ही है कि इतना व्यय कौन करेगा ? इसका उत्तर इतना ही है कि यदि यह व्यय कोई नहीं कर सकता, तो उक्त ग्रंथ भी नहीं बन सकेगा, और अर्थके विषयमें निश्चयात्मक उत्तर भी मिलना असंभव है

उक्त अर्थविषयक अनवस्थाका उत्तर "वेद-समन्वय" के विना कभी दिया नहीं जायगा । परंतु इस समय वैदिक धर्मियोंका सब ख्याल "शास्त्रार्थ" करके अपना विजय करनेकी ओर अधिक है । उतना वेदका अभ्यास करनेकी ओर नहीं है । स्वयं वेद न पढते हुए सब कार्य चलना चाहिए । पैसोंका व्यय न होते हुए सब ग्रंथ तैयार होना चाहिए । यही कारण है कि सर्वत्र अनवस्था और भ्रांति बढ रही है ।

वेद ही स्वतः प्रमाण ग्रंथ है । परंतु विषयानुसार मंत्रसंग्रह न होनेसे वेदमें किस विषयमें क्या लिखा है, इसका इस समय किसीको भी पता नहीं है । परंतु सब ही वेद पर व्याख्यान दे रहे हैं और सब ही लेख लिख रहे हैं । पूर्वापर संबंधका पता न होनेसे गडबड अवश्य होनी ही है । वही गडबड हो रही है । इस गडबडको बंद करनेका उपाय "वेद-समन्वय" ही है । परंतु वह बडे व्ययका कार्य है, इसलिये होना असंभव है वैदिक धर्मी लोग इसी प्रकार कार्य न करते हुए रहेंगे । किसी समय युरोपियन लोक स्वमतानुसार "समन्वय" का कार्य करेंगे । वैदिक धर्मी

लोग अपने अभिमानमें ही मस्त रहेंगे । जब तक समन्वय नहीं बनता, और जबतक एक एक विषयके संपूर्ण मंत्रोंका एकत्र संग्रह नहीं होता, तब तक यह अर्थ सत्य और वह अर्थ असत्य, ऐसा निश्चयात्मक कहना सर्वथा असंभव है । आग्रहसे अथवा दुराग्रहसे कोई किसी अर्थका मंडन अथवा अन्य अर्थका खंडन बेशक करता रहे, प्रमाणके विना बोलनेवालोंको बंद करना अशक्य है । परंतु जब कभी समन्वय बन जायगा, और सब वैदिक प्रमाण सन्मुख आ जांयगे तब कौनसा अर्थ सत्य है और कौनसा असत्य है इसका स्वयं निर्णय हो सकता है ।

स्वाध्याय मंडलमें " वेद-समन्वय " का कार्य प्रारंभ हुआ है परंतु । इसके आगे चलनेकी बहुत ही थोडी उमेद है । इसका कारण इतना ही है, कि केवल इच्छा मात्रसे कार्य नहीं बन सकते । स्वाध्यायमंडलके प्रत्येक कार्यमें इतनी आर्थिक हानि हो रही है कि किसी भी प्रकार आगे बढनेकी सूरत नजर नहीं आती । इसलिये "समन्वय" समाप्त करनेकी असमर्थता है ।

अर्थभेदका निश्चित उत्तर देनेका जो मुख्य साधन है, उस विषयमें इतना लिखनेके पश्चात् अब अर्थके भेदके विषयमें उसका स्वरूप थोडासा बताते हैं ।

ऋ. १।३०।११ " शिप्रिणी "

श्री. सायणाचार्य—दीर्घ नासिकावाली गाय ।
श्री. स्वा. दयानंदजी—व्यवहार ज्ञानवालीं स्त्रियां ।
Prof. Wilson—Cows with projecting jaws.
" Benfey—Beautiful women.
" Ludwig—Helmeted men.
" Roth—(Considers the reading to be faulty.)
Mr. Grifith—Lovely featured dames.

ऋ. १।१६४।५ "वत्से बष्कयेऽधि सप्ततंतून्०"

श्री. सायणाचार्य—सूर्य, सात स्तोम अथवा सात छंद
एक वर्षका बछडा, यहां सूर्य ।
श्री. स्वा. दयानंदजी—देखने योग्य संतानके निमित्त सात धातु ।

Mr. Grifiths—(the yearling calf-probably the sun.

ऋ. १।१७।३ "वनानि"

श्री. सायणा०—सुंदर

श्री. स्वा. दया०—सेवने योग्य

Mr. Grifiths—Lovely.

Prof. Grassmann—Beautiful trees.

Prof. Ludwig—spears.

Prof. Max Müller—Trees (lances)

ऋ. ४।२०।५ "सृण्यः"

श्री. सायणा०—अंकुश, शस्त्र.

श्री. स्वा. दया०—चलको प्राप्त उत्तम शिक्षित सेना ।

Prof. Ludwig—a grasping hook.

Prof. Aufrecht—a sickle.

Prof. Grassmann—a sickle.

ऋ. ४।५७।५ "शुना-सीर"

श्री. यास्का०-वायु, आदित्य.

श्री. सायणा०-इंद्र, वायु.

श्री. स्वा० दया०-क्षेत्रका स्वामी और भृत्य.

Prof. Roth—Ploughshare and plough.

Prof. Grassmann—plough and ploughman.

ऋ. ५।४४।४ "क्रिविः"

श्री. सायणा०-सूर्य, अग्नि.

श्री. स्वा दया०-प्रजापालक (अर्थात् सूर्य)

Prof. Ludwig—leather bag or bottle, cloud, cistern, well.

इस प्रकार अर्थके भेद हैं । शब्दके अर्थके विषयमें इतना भेद है। हरएक भाष्यकार आचार्य और भाषांतरकारका भिन्न मत है । इस भेदका

स्वरूप ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके लिये वेदका एक मंत्र लेकर विविध टीकाकारोंके विविध अर्थ नीचे देता हूं—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे
सप्त हस्तासो अस्य ॥ त्रिधा बद्धो वृषभो
रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥
ऋ. ४।५८।३ यजु. १७।९१

(१) गोपथ ब्राह्मण—जिसके चार वेद ये चार सींग हैं, तीन सवन ये तीन पांव हैं, ब्रह्मोदन और प्रावर्ग्य ये दो सिर हैं, सात छंद ये सात हाथ हैं, मंत्र कल्प और ब्राह्मण इन तीन स्थानोंमें जो बंधा है, ऐसा अत्यंत बलवान महान देव, अर्थात् "यज्ञ" मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे।

(२) निरुक्तमें यास्काचार्य—जिसके चार वेद चार सींग हैं, तीन सवन तीन पांव हैं, प्रायणीय और उदयनीय ये दो सिर हैं, सप्त छंद सात हाथ हैं, मंत्र ब्राह्मण कल्पमें तीन स्थानोंमें जो बंधा है वह महान यज्ञदेव मनुष्योंमें आवे।

(३) पतंजलि महामुनि—(व्याकरण महाभाष्यमें) जिसके चार सींग नाम, क्रियापद, उपसर्ग और निपात हैं, भूत भविष्य और वर्तमान ये जिसके तीन पांव हैं, नित्य और कार्य शब्द ये जिसके दो सिर हैं, सात विभक्ति ये जिसके सात हाथ हैं, छाती कंठ और सिरमें जो स्पर्श करता है, वह महान शब्दरूपी देव मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे।

(४) ऋग्वेदमें सायणाचार्य—(सूर्यपर अर्थ)—जिसके चार दिशा ये चार सींग हैं, प्रातःकाल मध्यदिन और सायंकाल ये तीन पांव हैं, दिन और रात्री ये दो सिर हैं, सप्त किरण अथवा सप्त ऋतु ये सात हाथ हैं, भूमी अंतरिक्ष और द्युलोक इन तीन स्थानोंमें जो बंधा है, यह वृष्टि करनेवाला महान सूर्यदेव मनुष्योंमें नियमन रूपसे प्रवेश करे।

(५) तैत्तिरीय आरण्यकमें सायणाचार्य—प्रणवके अकार उकार मकार और अर्धमात्रा ये चार सींग हैं, अध्यात्म और आधिदैवत आदि पक्षोंमें विश्व, तैजस और प्राज्ञ अथवा विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत ये तीन पांव हैं, चित् और अचित् ये दो शक्तियां सिर हैं, भूः भुवः स्वः

महः जनः तपः सत्यं ये सात व्याहृतियां सात हाथ हैं, विश्व तैजस प्राज्ञ आदि तीन स्थानोंमें अकारादि तीन रूपों द्वारा जो बंधा है, वह वृषभ अर्थात् बलवान शब्दरूपी प्रणवसे वाच्य महान देव परमेश्वर मनुष्योंमें प्रविष्ट है ।

(६) यजुर्वेदमें स्वा० दयानंद सरस्वती—(यास्क और पतंजलिके दोनों अर्थ स्वीकारते हैं ।)

(७) ऋग्वेदमें स्वा० दया० सरस्वती—चार वेद जिसके चार सींग हैं, कर्म उपासना और ज्ञान जिस धर्मके तीन पांव हैं, अभ्युदय और निश्रेयस ये दो जिसके सिर हैं, सात इंद्रिय जिसके सात हाथ हैं, श्रद्धा पुरुषार्थ और योगाभ्यास इन तीनमें जो संबंध रखता है वह सुखकी वृष्टि करनेवाला धर्मरूपी महान देव मनुष्योंमें आ जावे ।

(८) सायणाचार्य ऋग्वेदमें—कहते हैं कि इस मंत्रके पांच अर्थ होते हैं, (१) अग्नि, (२) सूर्य, (३) आप्, (४) गौ और (५) घृत, इन पांच उद्देशोंसे इसके पांच अर्थ संभवनीय हैं । सूर्य पर अर्थ स्वयं करके अन्य अर्थ इसी प्रकार समझना चाहिए ऐसी सूचना दी है । अर्थात् सायण-मतानुसार इस मंत्रके उक्त देवताओंके उद्देश्यसे पांच अर्थ होते हैं ।

एक ही मंत्रके इस प्रकार भिन्न अर्थ प्राचीन तथा अर्वाचीन भाष्यकारोंने दिये हैं । ऊपर संक्षेपसे अर्थ दिये हैं जो पाठक विस्तारपूर्वक देखना चाहें वे उक्त स्थानोंमें देख सकते हैं । उक्त अर्थोंमें निःसंदेह भिन्नता है। किसी किसी समय साधारण पाठक चक्करमें आ जायंगे और कहेंगे कि हम किसका अर्थ मानें और किसका न मानें ! ! !

क्या ये अर्थ परस्पर विरोधी हैं ? क्या महामुनि पतंजलि और पूजनीय यास्काचार्य तथा अन्य आचार्य वेदके अर्थके विषयमें संदेहमें थे ? क्या इस प्रकारके मनमाने अर्थ संभवनीय हैं ? क्या एक ही मंत्रके अनेक अर्थ संभवनीय हैं ? इस प्रकारके सैंकडों प्रश्न इस समय सन्मुख आजाते हैं, और साधारण पाठकोंका मन घबरा जाता है । यदि उक्त अर्थ एक नहीं हैं, तो उनमें विरोध अवश्य है, यही साधारण जनोंका मत होता है । परंतु यह शास्त्रकी दृष्टि नहीं है । भिन्न अर्थ होना विरोधका चिन्ह

नहीं है। एक ही मंत्रके अनंत अर्थ हो सकते हैं परंतु यह कोई आवश्यक नहीं कि भिन्न अर्थ होनेसे उनमें विरोध ही समझा जावे।

विरोध किसको कहते हैं? अर्थकी भिन्नताको विरोध नहीं कहा करते; क्योंकि वैदिक पदों, वाक्यों और मंत्रोंके अर्थोंकी भिन्नता उसकी रचनासे ही सिद्ध है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक (Individual, Social and Cosmic) अर्थात् वैय्यक्तिक, राष्ट्रीय और जागतिक दृष्टियोंसे कई मंत्रोंके कमसे कम तीन अर्थ होना, वैदिक रचनाके अनुकूल ही है। इस विधानकी स्पष्टता करनेके लिये कई पदोंके अर्थ नीचे दिये जाते हैं—

वैदिक पद	आध्यात्मिक भाव Individual meaning	आधिभौतिकभाव Social meaning	आधिदैविकभाव Cosmic meaning
इंद्र	जीवात्मा	राजा, नरेंद्र	परमात्मा, विद्युत्,
देव	इंद्रिय	विद्वान, शूर, व्योपारी और कारीगर	पृथिवी, आप, तेज सूर्य आदि
अग्नि	वाचा	ज्ञानी उपदेशक	अग्नि, तेज
आप्	वीर्य	शांत आत्मा, संन्यासी	जल
वृत्र	बुरे भाव और रोगबीज	आवरक शत्रु	मेघ आदि प्रकाशको रोकनेवाले पदार्थ।
उषा	बोध	जागृति	उषःकाल
मित्र	मित्रता	एकता, संघभाव	सूर्य आदि

सब शब्दोंके सब भाव देनेके लिये यहां स्थान नहीं है। परंतु उक्त पदोंके तीन स्थानके तीन भाव ऊपर बताये हैं। जिससे पाठक जान सकते हैं, कि एक एक देवताके मंत्र तीनों स्थानोंमें कमसे कम तीन भाव बतानेके लिये समर्थ हो सकते हैं। यह बात और है कि कई मंत्र केवल एक ही अर्थ बतानेवाले होंगे और कई मंत्र अनेक अर्थ बतानेवाले हो सकते हैं। इसी लिये हरएक मंत्रका तीन प्रकारका भाव अवश्य ही है ऐसा हम नहीं

कहते, परंतु वेदकी रचनाके अनुसार हम इतना कह सकते हैं कि कई मंत्रोंके उक्त हेतुके कारण अनेक अर्थ होना संभव है। उदाहरणके लिये निम्न मंत्र देखिए—

"इंद्र-ज्येष्ठा मरुद्गणाः ॥" ऋ. १।२३।८

(१)आध्यात्मिक—जिनमें जीवात्मा मुख्य है ऐसे प्राण।
(२)आधिभौतिक—जिनमें राजा मुख्य है ऐसे सैनिकोंके समूह।
(३) आधिदैविक—जिनमें विद्युत् मुख्य है ऐसे झंझावात।

"मरुतो मृळयंतु नः ॥" ऋ. १।२३।१२

(१) प्राण हम सबको सुखी करें। पंचप्राणोंसे सुख होवे।
(२) सैनिक हम सबको सुख देवें। रक्षकोंसे जनताका सुख बढे।
(३) वायु हम सबको सुखी करे। वायुसे सबका हित होवे।

इस प्रकार कई मंत्रोंके तीन तीन अर्थ होना वैदिक रीतिके अनुकूल ही है। प्रायः हरएक देवतावाचक शब्द और हरएक देवताके विरोधी शत्रुओंके वाचक शब्द इस प्रकार तीन तीन भाव बताते हैं। अर्थात् जैसे "इंद्र" शब्दके तीन भाव हैं, उसी प्रकार "वृत्र" के भी तीन भाव हैं। इंद्र वृत्रोंका आपसमें विरोध सनातन है। क्यों कि इंद्र प्रकाशको फैलाना चाहता है और वृत्र प्रकाशके विकासको रोकना चाहता है। इस-लिये इनका यह युद्ध सनातन है। "प्रकाश" का भाव भी उक्त तीन स्थानोंमें भिन्न है। यदि इस वैदिक रीतिको पाठक ठीक प्रकार जानेंगे, तो अर्थकी अनेकता मानते और अनुभव करते हुए भी उन भिन्न अर्थोंमें "विरोध" नहीं मान सकते। क्यों कि ग्रंथकी शैली ही वैसी है। जब तक प्रकाश और अंधकारके समान उनमें मूल सिद्धांतोंका विरोध न होगा, तब तक अनेक अर्थ होने पर भी उनका परस्पर विरोध नहीं माना जा सकता। सब आचार्योंकी यही शास्त्रदृष्टि इस समय तक स्थिर रही है।

साधारण लेखक पक्षपातसे अपने मतवालेका मंडन और अन्योंका खंडन करेंगे, प्रतिपक्षियोंको बुरा भला भी कहेंगे, परंतु वह साधारण जनोंकी ही बात होगी। साधारणोंके मतकी ओर देखनेकी भी कोई जरूरत नहीं है। क्यों कि सत्यासत्य निर्णयकी अपेक्षा वे स्वपक्ष मंडन और परपक्ष खंडनके जोशसे ही कार्य करते रहते हैं।

जोशमें स्वपक्षके दोषोंका मंडन और पर पक्षके गुणोंका भी खंडन होता ही है। इसलिये इस प्रवृत्तिका विचार भी करना अयोग्य है।

वास्तवमें देखा जाय तो कोई भाष्यकार यह नहीं कहता कि वेदमंत्रोंके जितने अर्थ संभवनीय हैं, उतने सब अपने भाष्योंमें दिये गये हैं। न सब अर्थ देनेका किसीने प्रयत्न किया है और न किया जाना संभव भी है; क्यों कि वेदकी अगाधता और गंभीरता अर्थकी दृष्टिसे ही है, उस गहराईका पार कौन लगा सगता है। इस बातको सब भाष्यकार मानते हैं, इस लिये सब भाष्य संक्षेपसे ही किये जाते हैं।

भाष्यकारोंकी दृष्टि भिन्नभिन्न होती है, कोई आध्यात्मिक दृष्टिसे करता है, कोई आधिभौतिक दृष्टिसे करता है तथा कई अन्य भिन्न भिन्न दृष्टिसे करते हैं। परंतु उससे यह नहीं सिद्ध होता, कि उनके किये अर्थोंसे भिन्न अर्थोंका खंडन उन्होंने किया है। एक दृष्टिको मुख्य रखकर अन्य दृष्टियोंको गौण मानना भाष्यकारकी इच्छा है। वैय्यक्तिक उन्नति (Individual Development) में आध्यात्मिक दृष्टि मुख्य है, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति (National Development) में आधिभौतिक दृष्टि मुख्य है, तथा जगत्की दृष्टिसे आधिदैविक दृष्टि मुख्य है। वास्तवमें तीनों बातें अपनी अपनी परिस्थितिके अनुकूल मुख्य ही हैं, परंतु प्रत्येक मंत्रके तीनों अर्थोंकी खोज करना बडे प्रयासका कार्य है, इसलिये भाष्यकार एक विशेष दृष्टि रखते हैं और उसीके अनुसार संक्षेपसे अर्थ करते जाते हैं। यदि एक एक मंत्रके अनंत अर्थ बनाते जांयगे तो इतना बडा ग्रंथ बनेगा कि जिसको पढना ही असंभव हो जायगा।

इस प्रकार वेदमंत्रोंके अर्थोंकी भिन्नता और अनेकता होनेका मूल कारण है। अब पूर्वोक्त "चत्वारि शृंगा०" मंत्रके विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है। उसके कई अर्थ ऊपर दिये हैं और कई लिखे भी नहीं हैं, क्यों कि इसके और दस पंद्रह अर्थ होते हैं। श्री० सायणाचार्यजीने स्पष्ट लिखा है कि इस सूक्तके पांच देवता होनेसे इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रके पांच पांच अर्थ होते हैं, परंतु यहां एक ही अर्थ दिया है, शेष अर्थ पाठक विचार करके जान सकते हैं। देखिए—

"यद्यपि सूक्तस्याग्निसूर्यादिपंचदेवताकत्वात्
पंचधाऽयं मंत्रो व्याख्येयस्तथापि......
सूर्यस्य प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते ।
........एवं तु अवादि पक्षेऽपि योज्यम् ॥"

ऋ. सा. भा. ४।५८।३

"यद्यपि इस सूक्तके अग्नि, सूर्य, आप्, गो, घृत ये पांच देवता होनेसे, यह मंत्र पांच प्रकार व्याख्या करने योग्य है तथापि......यहां सूर्य पर ही व्याख्या की जाती है।......इस प्रकार अप् आदि विषयमें योजना की जावे।"

इससे भाष्यकारोंकी सावधानता स्पष्ट होती है अनेक अर्थोंको मानते और जानते हुए भी स्थलके अभाव और ग्रंथविस्तारके भयके कारण वे विचारे चुप ही रह जाते हैं। उक्त मंत्रके पांच देवताओंके विषयमें इतना ही यहां वक्तव्य है, अग्नि सूर्यादि पांचों देवताओंके पूर्वोक्त तीनों स्थानोंमें तीन तीन भाव होनेसे पंद्रह अर्थ तो निश्चित ही हो गये; इससे भिन्न अन्य प्रकरणके अनुसार जो होंगे वे भिन्न हैं। भाष्यकार लिखनेवाले भी हुए तौ भी कहां तक अर्थ देते रहेंगे। परंतु आश्चर्यकी बात यह है कि जो अर्थ दिये गये हैं, वे ही अधिक हैं, ऐसा आजकलके अल्प दृष्टिके लोग समझ रहे हैं !!! और उनकी संगतिको न देखते हुए काल्पनिक विरोधको ही देखते हैं !!!

"चत्वारि शृंगा०" मंत्रके पूर्वोक्त अर्थोंमें तैत्तिरिय आरण्यक में श्री. सायणाचार्य जो अर्थ करते हैं, वह आध्यात्मिक अर्थ है, परंतु वह जीवात्मा परमात्मा पर लगाया जा सकता है। आरण्यकोंका विषय ही आध्यात्मिक होनेसे यहां इसका अर्थ श्री. सायणाचार्यजीने जो किया है सो ठीक ही है। *आरण्यकोंमें सेंकडों वेदमंत्र इस प्रकार अध्यात्म भावके* प्रतिपादनार्थ लिये गये हैं। उक्त अर्थमें "प्रणव" का भाव मुख्य है। प्रणवका अर्थ "शब्द" है। इस अर्थको लेकर महामुनि पतंजलिने शब्दशास्त्रपर–अर्थात् व्याकरण शास्त्रपर–अर्थ किया है। यही भाव श्री. स्वा० दयानंद सरस्वतीजीने यजुर्वेदमें लिया है। अर्थात् यह अर्थ भी उक्त

अर्थके अनुसार ठीक ही है । उक्त मंत्रकी "अग्नि" देवता "यज्ञ और ज्ञान" की द्योतक है । श्री यास्काचार्यने जो यज्ञपर अर्थ गोपथ ब्राह्मणके अनुसार किया है वह उक्त देवताका भाव मनमें धारण करके ही किया है, इसलिये इसको भी कोई प्रकरणके विरुद्ध नहीं कह सकता । यज्ञ और ज्ञान मिलकर ही सनातन धर्म होता है । ज्ञानकांड और कर्मकांड रूप "धर्म" के भावको लेकर श्री. स्वा० दयानंदजीने ऋग्वेदमें अर्थ किया है, वह भी असंगत कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् उक्त सब अर्थ, तथा इनसे भिन्न भी जो अनेक अर्थ होना पूर्वोक्त कथनके अनुसार संभवनीय हैं, वे सब अर्थ उक्त "चत्वारि शृंगा०" मंत्रके हैं । कोई कारण नहीं कि इनमें कोई विरोध अथवा खेंचातानी माने । आग्रह और दुराग्रहको छोड कर विचार किया जायगा तो सब अर्थ उस मंत्रके ठीक ही हैं ।

भगवान पतंजलि आदि ऋषिमुनियोंको वेदका छद्गत हमारेसे अधिक विदित था । वे न कभी खेंचातानी करेंगे और न कभी विरोधमय अर्थ लिखेंगे । उनके अर्थोंसे ही हमें वैदिक अर्थोंकी शैलीको जानना चाहिए । उनके विभिन्न अर्थोंमें जो "सूक्ष्म और गुप्त एकता" है वह वैदिक शैलीकी द्योतक है । खंडन और मंडन करनेके पूर्व प्रिय पाठकोंको उचित है, कि वे सबसे प्रथम "वैदिक शैलि" को जाननेका यत्न करें । पश्चात् खंडनके लिये बहुत समय मिलेगा, अथवा यौं कहना अधिक उचित होगा कि पश्चात् खंडन करनेका प्रसंग ही नहीं आवेगा । आज कल जितने खंडन मंडन हो रहे हैं, उनमें विकारीभाव प्रधान है । वैदिक शैलीका परिज्ञान होनेके पश्चात् जहां थोडासा विरोध प्रतीत होगा वहां ही खंडनका प्रसंग आ जायगा ।

अब यहां पाठक पूछेंगे कि एक ही मंत्रके विविध अर्थ कैसे प्रमाण माने जा सकते हैं ? क्या कभी एक ही वाक्यके विविध अर्थ हो सकते हैं ? उत्तरमें निवेदन है कि, वेदमंत्रोंके मुख्य दो भेद हैं । (१) एक विभागमें स्पष्ट अर्थ बतानेवाले सब मंत्र आते हैं । जैसा—"गां मा हिंसीः ।" गायकी हिंसा न कर । (यजु. १३।४२) यह मंत्र है । यद्यपि इस मंत्रमें "गो" शब्दके इंद्रिय, वाणी, गाय, भूमि आदि अनेक अर्थ हैं, और

मुख्य "गो" शब्दके अनेक अर्थ होनेसे मंत्रके भी अनेक अर्थ होना संभव है, तथापि मंत्रका कथन स्पष्ट है और संदिग्ध नहीं है। ऐसे स्पष्ट कथन-वाले मंत्रोंको "अपरोक्ष-विषयक-मंत्र" कहते हैं। (२) दूसरे मंत्र होते हैं, कि जिनमें गुप्त संकेतसे विशेष बातें कहीं होतीं हैं। मंत्रके शब्दोंसे स्पष्ट रूपमें कोई भी अर्थ नहीं निकलता, परंतु सब भाव गुप्ततासे शब्दोंके बीचमें (Between the lines or words) छिपा रहता है। इस प्रकारके मंत्रोंको "परोक्ष-विषयक-मंत्र" कहा जाता है। जिसका उत्तम उदाहरण "चत्वारि शृंगा०" मंत्र है। इसका शब्दार्थ निम्न प्रकार है—

"चार सींग, तीन इसके पांव, दो सिर और सात इसके हाथ हैं। तीन प्रकारसे बंधा हुआ सिंचक और शब्द करनेवाला बडा देव मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे।"

उक्त मंत्रका शब्दशः यह अर्थ है। परंतु इससे क्या बोध होता है? कौनसे पांव, कौनसे सिर, कौनसे हाथ, कहां बंधा हुआ है, किसका सिंचन करता है, किस प्रकारका शब्द करता है, यह किससे बडा है और यह मनुष्योंमें किस प्रकार आ सकता है इसका कोई पता यहां नहीं है। इसका निम्न प्रकार अंग्रेजी भाषांतर किया करते हैं—

Four are his horns, three are the feet that bear him; his heads are two, his hands are seven in number. Bound with a triple bond the Steer roars loudly: The mighty God entered in to mortals. (Mr. Griphiths Rig veda).

इसका भाव ऊपर दिये शब्दार्थके समानही है। कोई भी इसके शब्दोंका भिन्न अर्थ नहीं कर सकता। 'वृषभ' शब्दका अर्थ इसने Steer किया है, उसमें मतभेद हो सकता है। परंतु उसका कोई भी अर्थ करनेसे कुछ भी बोध नहीं हो सकता। जिन मंत्रोंके शब्दोंसे कोई भी प्रत्यक्ष बोध नहीं होता उन मंत्रोंको ही "परोक्ष-विषयक-मंत्र" कहा जाता है। इसीको Enigma, riddle, puzzle अर्थात् गूढ प्रश्न, संकेतका

कथन, बुझारत, गोरख धंदा, आदि कहते हैं। सब परोक्ष विषयके मंत्रोंकी यही अवस्था है। इन मंत्रोंका लक्षण ही यह है कि इनके शब्दोंसे कोई भाव स्पष्टतया व्यक्त नहीं होता, तथा बाहेरके शब्द लानेके विना कभी इनका अर्थ होही नहीं सकता। इस लिये इनका अर्थ निम्न प्रकार लिखना उचित है—

"(......ये इसके) चार सींग हैं, (......ये) इसके तीन पांव हैं, (.........ये इसके) दो सिर हैं, और इसके (.........ये) सात हाथ हैं। (यह.........इन) तीन स्थानोंमें बंधा है, (इसका ....यह) सिंचन करता है, (.........इस) शब्दको करनेवाला (.........यह) बडा देव मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे।"

जहां जगह छोडी है वहां बाहेरसे शब्द लेकर अर्थकी पूर्णता करना है। यही इसमें (Riddle) गुप्त संकेत है। इस प्रकारके संकेत (Riddle)वेदमें अनंत हैं, और यही वेदकी "गुप्त विद्या" है। "गुह्याद्गुह्यतरं महत्" गुप्तसे गुप्त ज्ञान वेदमें इसी रीतिसे भरा है। जिनकी इस प्रकारकी आंखें होंगीं, वे ही इस गुप्त ज्ञानको देख सकते हैं, साधारण तर्ककी वहां गति नहीं है। इससे पाठक जान सकते हैं, कि "परोक्ष विषयक मंत्रोंकी रचना" किस प्रकारकी होती है। जो गुप्त विद्याके पुस्तक होते हैं उन सबमें ऐसी ही रचना हुआ करती है। (Freemasonry) फ्रीमेसन्री सभाके पुस्तक–जिनमें उनकी गुप्त बातें लिखीं होतीं हैं— उनके लेख भी अपरिचित मनुष्यको दुर्बोध होते हैं। जो मनुष्य फ्रीमेसन्रीका सभासद होता है वह ही पढकर उस लेखका भाव जान सकता है। गुप्त रीतिका जिसको पता नहीं है, वह ग्रंथ पढकर भी गुप्त आशयका पता नहीं लगा सकता। इसी प्रकार कई अन्य गुप्त संघोंकी संकेत भाषा होती है। जो पाठक इन आधुनिक गुप्त संकेतके भाषाओंको जानते हैं, वे उक्त मंत्रकी संकेतरूपताको जान सकते हैं। वेदमें इससे भी बढकर संकेत हैं। वैदिक संकेत–लिपियोंमें "चत्वारि शृंगा०" मंत्र अत्यंत सरल है। किसी प्रसंगमें अन्य मंत्रोंका भी विशेष प्रकार ऐसे ही लेखों द्वारा प्रकाशित किया जायगा। तात्पर्य "संकेत–लिपि" सर्वत्र दुर्बोध ही होती है।

उसी प्रकार वेदके प्रायः सब "परोक्ष-विषयक-मंत्र" दुर्बोध होते हैं। इन मंत्रोंमें अनेक विषय लिखे होते हैं, इसलिये एक ही मंत्र अनंत भावोंका प्रदर्शन करनेका सामर्थ्य रखता है ।

इन संकेत-मंत्रोंको खोलनेके लिये वैदिक परिभाषामें अन्य वेदमंत्रोंके उपदेशानुसार "गण" बनाये गये हैं । ऋषि मुनियोंके द्वारा ब्राह्मणादि ग्रंथोंमें कई "गण" लिखे हैं; और कई गणोंका सूचना मात्र दिग्दर्शन किया है । इन गणोंके शब्दोंको उक्त मंत्रके "रिक्त-स्थानों" में अर्थात् खुले स्थानपर रख देनेसे मंत्रका अर्थ स्पष्ट और व्यक्त हो सकता है। उन गणोंमेंसे थोडेसे गण नीचे देता हूं—

(१) "आत्म गण"—। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या ॥ सत्व, रज, तम ॥ चित्, अचित् ॥ सत्ता, कल्पना, आनंद, महत्व, प्रजनन, तेज, सत्व ॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण ॥ अभौतिक बल ॥ स्फुरण शब्द ॥ आत्मा ॥

इस आत्म-गणके शब्द क्रमशः रिक्त स्थानमें रखिए जिससे उक्त मंत्रका आत्मापर अर्थ ऐसा हो जायगा—

"(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या ये इसके) चार सींग हैं, (सत्व, रज, तम ये) इसके तीन पांव हैं, (चित् और अचित् ये इसके) दो सिर हैं, और इसके (सत्ता, कल्पना, आनंद, महत्व, प्रजनन, तेज और सत्य ये) सात हाथ हैं । (यह स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरोंमें) तीन स्थानोंमें बंधा है, (यह अभौतिक-आत्मिक-बलका) सिंचन करता है, (स्फुरणशब्द) को करनेवाला (यह आत्मा) महान् देव मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे ।"

इसका स्पष्टीकरण—आत्माकी शक्तियां जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या, इन चार अवस्थाओंमें बाहेर आकर कार्य करतीं हैं; जैसे बैलकी शक्ति सींगोंमें आकर कार्य करती है । आत्माके पांव सत्व रज तम रूप प्रकृतिमें रखे जाते हैं । आत्माके दो मुख्य भाग हैं चित् संज्ञक भाग चेतन प्राणियोंमें दीखता है और दूसरा वृक्षादि स्थावरोंमें दीखता है । सत्ता कल्पना आदि सप्त शक्तियोंसे वह आत्मा शरीरमें कार्य करता है । यह आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण संज्ञक तीन शरीरोंमें बांधकर रखा है ।

यह आत्मिक बल देता है। हृदयके अंदर स्फुरण रूप गुप्त शब्दकी प्रेरणा यह करता है। आत्मा ही महान देव है वह सब मनुष्योंमें आकर कार्य करे अर्थात् स्वतंत्रतासे अपने भावोंको व्यक्त करे। सामान्य मनुष्योंमें आत्मा परतंत्र सा रहता है, उसकी यह परतंत्रता दूर होवे और वह अपने निजरूपमें कार्य करनेके लिये समर्थ होवे।

यह उक्त मंत्रका तात्पर्य "आत्मिक-दृष्टि" से है। इसी प्रकार अन्य-दृष्टियोंसे देखना उचित है। अन्य गणोंका विचार करनेसे अन्य बातें पाठक स्वयं जान सकते हैं, इस लिये अन्य गणोंका संकेत नीचे दिया जाता है—

(२) "यज्ञ–गण"—। ब्रह्म, पितृ, भूत, देव यज्ञ ॥ अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव ॥ अकर्म और कर्म ॥ सप्त होता गण ॥ विचार, उच्चार, आचार ॥ सुफलता ॥ प्रेरणाका शब्द ॥ यज्ञ ॥ (सूचना—इसमें भूतयज्ञमें नरयज्ञ अंतर्भूत हुआ है.)

(३) "मंत्र—गण"—। ऋग्, यजुः, साम, अथर्व ॥ प्रथम, मध्यम और उच्च स्वर ॥ परोक्ष और अपरोक्ष विषय ॥ सात छंद ॥ उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित ॥ ज्ञान ॥ शब्द ॥ मंत्र ॥

(४) "शब्द—गण"—। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ॥ भूत, भविष्य, वर्तमान ॥ नित्य और कार्य ॥ सात विभक्तियां ॥ छाती कंठ और सिर ॥ ज्ञान ॥ वक्तृत्व ॥ शब्द ॥

(५) "सूर्य—गण"—। चार दिशा ॥ प्रभात, मध्यान्ह और सायंकाल ॥ प्रकाश और अंधकार ॥ सात प्रकारके रंगोंवाले किरण ॥ पृथिवि, अंतरिक्ष और आकाश ॥ प्रकाश ॥ गतिका शब्द ॥ सूर्य ॥

(६) "काल—गण"—। भूत, भविष्य, वर्तमान, अ-काल ॥ उष्णता, वृष्टिः और सर्दी ॥ आदि और अंत ॥ सात ऋतु ॥ प्रातः, मध्यंदिन और सायंकाल ॥ आयु ॥ प्रेरणाका शब्द ॥ काल अथवा समय ॥

(७) "धर्म—गण"—। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ॥ ज्ञान, कर्म और भक्ति ॥ अभ्युदय और निश्रेयस ॥ श्रद्धा, दया, संतुष्टि, क्रिया, मेधा, तितिक्षा और शांति ॥ स्तुति, प्रार्थना और उपासना ॥ उत्कर्ष ॥ प्रेरणाका शब्द ॥ धर्म ॥

इस प्रकार कई अन्य गण हैं। परंतु सबको यहां धर देनेके लिये स्थान नहीं है। पाठक इन गणोंको पूर्वोक्त रिक्त स्थानमें रखें और देखें कि कैसा पूर्ण अर्थ हो जाता है। जो पाठक वेदोंका स्वाध्याय करते हैं, उनसे प्रार्थना है, कि वे इन शब्दोंको लिख कर प्रत्येक प्रकारका अर्थ कागजपर लिख कर रखें। तथा पूर्वोक्त आध्यात्मिक अर्थके स्पष्टीकरणके समान हरएक अर्थका स्पष्टीकरण लिखें। तथा अन्य गणोंका संग्रह करके अन्य अर्थोंको भी लिखनेका पुरुषार्थ करें। केवल एकवार पढनेसे कार्य नहीं होगा। वेदके गूढ अर्थके ज्ञानका आविष्कार करनेकी रीति सुगम करनेका इसी प्रकार प्रयत्न होना आवश्यक है। अस्तु।

पूर्वोक्त गणोंमें तथा अन्य न लिखे हुए गणोंका विचार करके और ब्राह्मण वचनोंके आंतरीय भावोंका अनुसंधान करके तथा भाष्यकारोंके सब अर्थोंका परिशीलन करनेके पश्चात् सब गणोंका आविष्कार करना संभव है। कई स्थानोंमें शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथोंमें ये गण दिये हैं। कई स्थानोंमें केवल निर्देश मात्र किया है। जब कभी ये सब गण बडे आंदोलनके साथ शुद्ध और ठीक बनाये जांयगे, तब इस प्रकारके "कूट—मंत्रों" का अर्थ निश्चित हो सकेगा।

इतने विचारके पश्चात् पाठक देख सकते हैं कि इस प्रकारके "कूट—मंत्र" विशेष शैलीके साथ रखे हैं। जो पंडित इनके कूटोंको समझनेकी बुद्धि नहीं रखते, तथा इस प्रकारकी "कूट—शैली" से अनभिज्ञ होते हैं, वे कहते हैं कि "वेदका लेख गंवारपनका द्योतक है।" देखिये गुरुवर्य विल्सन साहब उक्त मंत्रके विषयमें लिखते हैं कि "A good specimen of Vaidik vagueness and mystification, and of the straits to which commentators are put to extract an intelligible meaning from the text." अर्थात् "वेदके कथन कैसे गोलमोल और अनिश्चित होते हैं इसका यह उत्कृष्ट उदाहरण है। तथा वेदमंत्रोंसे सुबोध अर्थ खींचनेके लिये कितनी मुष्किलोंमें टीकाकारोंको जाना पडता है इसका भी यही उत्तम उदाहरण है।"

श्री० गुरुवर्य विलसन साहेबका यह मत है । पाठक म. ग्रिफिथ महोदयके ऋग्वेदमें इसी " चत्वारि शृंगा० " मंत्रके अर्थके प्रसंगमें टिप्पणीमें देख सकते हैं । प्रायः सब युरोपीयनोंका यही मत है । तथा आजकलके एतद्देशीय नवीन शिक्षित भी इसी मतका स्वीकार करते हैं । युरोपीयन पंडितोंके वेदविषयक अगाध और अश्रांत परिश्रमोंके लिये इस लेखकके मनमें बडा आदर है । परंतु जो बात युरोपीयन पंडितोंके मनमें सीधी नहीं उतर सकती वह अवश्य ही (vague) गोलमाल होनी चाहिए, ऐसा हम नहीं मान सकते । सर्वज्ञताका टेका केवल युरोपीयनोंका ही लिया हुआ नहीं है । तथा ऐसी बहुतसीं बातें हैं, कि जो (vague) गोलमाल नहीं हैं और बिलकुल सीधीं हैं परंतु युरोपीयनोंका स्थूल मन उन सूक्ष्म बातोंको ग्रहण करनेके लिये इस समय समर्थ नहीं है । कई शताब्दियोंकी तपस्याके पश्चात् वे भी सूक्ष्म विचारोंका ग्रहण करनेके योग्य हो सकते हैं । निरुक्तकार श्रीमान् यास्काचार्यजीके मतके अनुसार " वह खंबेका अपराध नहीं है, कि जिसको अंधा नहीं देख सकता । " यही बात युरोपीयन पंडितोंके उक्त मतके विषयमें समझनी उचित है । क्यों कि हमने ऊपर बताया ही है कि उक्त " चत्वारि शृंगा० " मंत्रमें कौनसी गूढ बात है, और उस गूढताका आविष्कार करनेका मार्ग कौनसा है । और इस प्रकारके कूट मंत्रोंका लक्षण क्या है । लक्षण और उपाय जहां निश्चित होते हैं, वहां (Vagueness) गोलमोलपन है अथवा अनिश्चितता है ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? अच्छे अंग्रेजी पढे हुए विद्वान् भी (Freemasonry) फ्रीमेसन्रीके पुस्तक पढकर उनका आशय नहीं जान सकते, यदि इस लिये कोई कहेगा, कि फ्रीमेसन्रीके पुस्तक गोलमोल हैं, तो कैसे ठीक माना जा सकता है ? परिभाषा जाननेके विना सब ही शास्त्र संदिग्ध होते हैं । प्रत्येक शास्त्रकी परिभाषा और प्रतिपादनकी शैली भिन्न होती है, जब तक उस परिभाषा और शैलीके साथ परिचय नहीं होगा, तब तक तत्वका ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसलिये उक्त युरोपीयनोंका मत माननीय नहीं हो सकता ।

पाठक यदि इस वास्तविक दृष्टिसे वेदके विविध अर्थोंको देखेंगे तो उनको विरोधका भ्रम नहीं होगा । तथा जो बातें प्रथम संदिग्ध प्रतीत

होतीं होंगीं, वह भी इस दृष्टिका अवलंबन करनेके पश्चात् अत्यंत सरल प्रतीत होंगीं ।

वास्तविक बात यह है कि वेद पढनेके लिये दृष्टिका कोण ही बदलना आवश्यक है । जिस दृष्टिसे आजकल सृष्टिकी ओर देखा जाता है उस जड दृष्टिको बिलकुल भूलना चाहिए, और सूक्ष्म चेतनमय दृष्टिसे देखनेका अभ्यास करना चाहिए । तब वेद पढना और पढकर समझना संभव है । शब्दोंका स्मरण करने मात्रसे वेदका अर्थ नहीं ज्ञात हो सकता । शब्दोंके मूल स्वरूप तक बुद्धिद्वारा प्रवेश करनेका अभ्यास करना चाहिए ।

पाठक पूछेंगे कि यह कैसे हो सकता है ? प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करनेसे ही वह दृष्टि आ सकती है । इसी लिये आचार्य कहते हैं कि " **वेदका पढना पढाना, सुनना सुनाना, सब आर्योंका परम धर्म है ।** " यह नियम है, परंतु इस नियमका पालन करनेकी जिम्मेवारी कौन उठा रहा है ? विचार तो कीजिए । पाठकोंसे इसलिये प्रार्थना है कि वेदमें जो अद्भुत ज्ञान है उसको प्राप्त करनेके लिये श्रद्धासे प्रतिदिन स्वाध्याय कीजिए । और अपने मित्रोंको उत्साह दीजिए । इसीसे आपका और सबका भला हो सकता है ।

“देव” शब्दका अर्थ।

वैदिक भाषाके अंदर ‘देव’ शब्दका अर्थ अत्यंत महत्व पूर्ण है। सबसे व्यापक और सबसे कठिन कल्पना ‘देव’ शब्दके द्वारा वैदिक वाङ्मयमें प्रकट हो रही है। जबतक ‘देव’ शब्दका भाव पूर्ण रीतिसे समझमें न आयेगा तबतक वेदका पठनपाठन न केवल अशक्य है, परंतु भ्रामक भी हो सकता है। इस लिये देव शब्दका थोडासा विचार करनेका निश्चय इस लेख में किया है।

“सब नाम धातुसे बनते हैं” ऐसा नैरुक्तोंका एकमतसे निश्चय है, और व्याकरण कर्ताओंमें से कई व्याकरणकार इस विषयमें निरुक्त के साथ हैं। परंतु कई अन्य व्याकरण कर्ताओंका मत ऐसा भी है कि सब नाम धातुसे नहीं बने हैं, परंतु थोडे नाम धातुसे बने हैं और थोडे नहीं बने। हमें इस समय वैय्याकरणोंके इस झगडेमें जानेकी जरूरत नहीं है। देव शब्द निश्चयसे धातुसे ही बना है, इस विषयमें किसीका मतभेद नहीं है। इसलिये इस शब्दका धातुजन्य अर्थ प्रथम हम देखेंगे।

‘धातु और प्रत्यय’ मिलकर संस्कृत भाषाके नाम क्रियापद विशेषण आदि शब्द बनते हैं। कईयोंको उपसर्ग लगता है कईयोंको नहीं लगता। इसलिये शब्दका अर्थ निम्न प्रकार समझा जाता है—

$$\text{शब्द} = \left\{ \frac{(\text{उपसर्ग}) + \text{धातु} + \text{प्रत्यय}}{\text{लिंग} + \text{वचन} + \text{विभक्ति}} \right\} = \text{शब्दका अर्थ।}$$

अर्थात् शब्दका मूल अर्थ वह ही है, कि जो धातुका अर्थ, उपसर्ग यदि लगा होगा तो उससे नियमित होकर, प्रत्यय द्वारा सुसंस्कृत बनकर, लिंग–वचन–विभक्तिके ढांचेमें ढाला जाकर, व्यक्त होता है।

यहां देव शब्दके विचारमें उपसर्ग है ही नहीं। ‘दिव्’ धातुसे ‘अ’ प्रत्यय लगाकर देव शब्द बनता है। वचनसे एकत्व, द्वित्व अथवा बहुत्वका

बोध होगा और विभक्तिसे उसका अन्य शब्दोंसे संबंध व्यक्त होगा। लिंगके द्वारा वैदिक भाषामें क्या और संस्कृत भाषामें क्या अर्थका बहुत भेद नहीं होता। देखिए—

(पुल्लिंग)	(स्त्रीलिंग)	(नपुंसकलिंग)
देवः	देवी, देवता	दैवतं
लेखः	पत्रिका	पत्रं
मोक्षः	मुक्तिः	कैवल्यं
वेदः	श्रुतिः	ज्ञानं
दाराः	वनिता	कलत्रं
स्तवः	स्तुतिः	स्तोत्रं

यद्यपि कई स्थानोंपर रूढीमें लिंग भेदसे अर्थभेद होता भी है तथापि प्रारंभिक अवस्थामें भेदका अभाव प्रतीत होता है; इसीलिये परमात्माके लिये वेदमें तीनों लिंगोंमें शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृत विषयमें 'देवः, देवता, दैवतं' इन तीनों शब्दोंद्वारा एकही आशय निकलता है, यही बात यहां बतानी है। अन्य शब्दोंमें अर्थ भेद बतायाभी जा सकता है। परंतु इस शब्दके विषयमें कोई अर्थभेद नहीं होता है। अस्तु। पूर्वोक्त प्रकारसे 'देव' शब्दका अर्थ निम्नप्रकार हो सकता है—

$$\text{देवः} = \left\{ \frac{(\text{० उ. स.}) + \text{दिव्} + \text{अ}}{\text{लिंग} + \text{वचन} + \text{विभक्ति}} \right\} = \text{देव शब्दका अर्थ।}$$

गणितकी परिभाषामें देवशब्दका यह अर्थ है। इसके अर्थका निश्चय करनेके लिये हमें सबसे प्रथम 'दिव्' धातुका अर्थ देखना चाहिए।—

'दिव्' धातुका अर्थ—(१) क्रीडा (to sport) मर्दानी खेल खेलना; (२) विजिगीषा (to desire to conquer) विजय प्राप्तिकी इच्छा करना; (३) व्यवहार (to traffice) व्यापार व्यवहार कहना; (४) द्युति (to shine) प्रकाशित होना; (५) स्तुति (to praise) प्रशंसा करना; (६) मोद (to be glad) आनंदित होना; (७) मद (to gratify) संतुष्ट होना; (८) स्वप्न (to sleep) उत्तम निद्रा प्राप्त करना; (९) कांति (to love) प्रीति करना; (१०) गति (to move)

हलचल करना; (११) दान (to give) देना। इतने इस धातुके अर्थ हैं। येही देव शब्दमें अर्थ हैं ऐसा समझ लीजिए।

अर्थात् (१) मर्दानी खेल खेलनेकी ओर प्रवृत्ति, (२) विजय प्राप्तिकी इच्छा, (३) व्यापार व्यवहार उत्तम प्रकारसे करनेमें चतुरता, (४) तेजस्वी होनेका स्वभाव, (५) प्रशंसित काम करना और स्तुत्य बनना, (६) आनंद वृत्तिसे सदा रहना, (७) संतोष रखना, (८) उत्तम विश्राम प्राप्त करना, (९) प्रीति करना (१०) हलचल करना, (११) परोपकार करना। ये देव शब्दके धात्वर्थ हैं।

देवत्वके उक्त लक्षण हैं ऐसा समझना उचित है। यदि किसीको देवत्व प्राप्त करना होगा तो उसको उचित है कि वह उक्त लक्षण अपने अंगमें बढानेका यत्न करे। देवत्व प्राप्त हो सकता है वा नहीं इस विषयमें कई लोग शंका कर सकते हैं। उनके समाधानके लिये निम्न वाक्य यहां रखे जाते हैं—

> देवत्व-प्राप्त्युपायेन तत्तादृशं कर्म वो युष्माकं वक्तु-
> मह्मागमम् ॥ ऋग्वेद। सायणभाष्य ॥ १।१६१।२

श्री० सायणाचार्य अपने भाष्यमें 'तद्ध आगमं' इन पदोंका अर्थ करनेके समय लिखते हैं कि 'देवत्व प्राप्तिके उपायके साथ उस कर्मका उपदेश आपको कहनेके लिये मैं आयाहूं।' अर्थात् देवत्वकी प्राप्ति होती है और उसकेलिये सदाचार आदि उपाय हैं। तथा मरुतोंके विषयमें येही श्री० सायाणाचार्य लिखते हैं—

> मनुष्यरूपा वा मरुतः। पूर्वं मनुष्याः सन्तः
> पश्चात् सुकृतविशेषेण ह्यमरा आसन् ॥
>
> ऋ. सायणभाष्य १०।७७।२

"मरुत् मनुष्यरूपही हैं। पहिले मनुष्यही थे पश्चात् पुण्यकर्म करनेसे अमर होगये।"

श्री० सायणाचार्यजीके कथनका तात्पर्य इतनाही है कि मनुष्य पुण्य-कर्म करनेसे देवत्व प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् देवत्व प्राप्तहो सकता है।

कष्टसे प्राप्त होगा परंतु अप्राप्य नहीं है । यह श्री सायणाचार्यजीका कथन शतपथके वचनके साथ मिलता है । शतपथमें कहा है कि—

विद्वांसो हि देवाः ॥ शत. ३।७।३।१०

"विद्वान् देव हैं।" ज्ञान प्राप्त करना देवत्व का लक्षण है । इसी अर्थका विचार मनमें रखकर श्री. सायणाचार्य देव शब्दका अर्थ मनुष्यपर ही करते हैं । देखिए—

(१) देवाः ऋत्विजादयो ब्राह्मणाः ॥ ऋ. १।२३।१९
(२) देवाः व्यवहर्तारो यजमानाः ॥ ऋ. १।१४७।१
(३) देवाः व्यवहर्तारो मर्ता मनुष्याः ॥ ऋ. १।१९०।१

अर्थात् ब्राह्मण, यजमान, मनुष्य ये देव हैं, तात्पर्य मनुष्योंमें देव हैं यह आशय सायणभाष्यमें है । श्री० स्वा० दयानंद सरस्वती जी अपने भाष्यमें सैंकडों स्थानपर देव शब्दका अर्थ मनुष्यपर करते ही हैं । अर्थात् शतपथ ब्राह्मणसे लेकर श्री० स्वामीजी तक सबनें देव शब्दका मनुष्यपर अर्थ माना है । नाटकोंमें भी राजा के लिये देव शब्द प्रयुक्त है ! 'भूदेव' ब्राह्मणोंका नाम प्रसिद्ध है । 'धनदेव' कदाचित् वैश्य होंगे और 'कर्मदेव' सब मनुष्य माने जा सकते हैं । उपनिषद् में भी कहा है—

ये कर्मणा देवानपि यन्ति । तै. उप. २।८
ये कर्मणा देवत्वमभि संपद्यन्ते ॥ बृ. उप. ४।३।३३

'कर्मसे देवत्वको प्राप्त होते हैं ।' अस्तु कर्मसे देव बननेवाले मनुष्य हो सकते हैं । प्राणियोंमेंसे कोई अन्य इस पदवीको प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार श्रेष्ठ मनुष्योंकी पदवी देव होती है ।

देवताओंके विषयमें विचार करनेके समय, मनुष्योंके अंतर्गत देवताओंका वर्णन यहांतक किया । पृथ्वी, आप, तेज, सूर्य चंद्र, वायु आदि बाह्य सृष्टिमें जो देव हैं उनको सबही एक मतसे मानते हैं, इसलिये इनके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं ।

मनुष्य समाजके अंदर देवतागण ब्राह्मण क्षत्रिय आदि हैं और बाह्य सृष्टिमें अग्नि, वायु, विद्युत्, सूर्य आदि हैं इतनी बात सिद्ध होगई । अब देखना है कि व्यक्तिके शरीरमें कौनसे देव हैं । इस विषयमें श्रीसायणाचार्य लिखते हैं—

(१) देवाः गमनवन्तो व्यवहरन्तो वा इंद्रियसंज्ञकाः ।

ऋ० सायणभा. १।१६४।३९

(२) देवाः द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनि इंद्रियाणि ॥

ईश उ० शांकरभाष्य ॥ मं. ४ ॥ यजु अ. ४०।४॥

" देव अर्थात् सब व्यवहारके साधनभूत और प्रकाशक इंद्रिय" हैं ऐसा उक्त माननीय आचार्योंने कहा है । येही व्यक्तिके अंदर देव हैं । व्यक्ति, समाज और जगतमें क्रमशः इंद्रिय, ज्ञानी मनुष्य, और अग्न्यादि पदार्थ देव हैं यह बात यहां सिद्ध होगई । अब इनके लक्षण देखिए कैसे इनमें सार्थ होते हैं—

(१) व्यक्तिमें देव—इंद्रिय—इंद्रियोंकी खेलकी ओर प्रवृत्ति है, इंद्रियोंसे ही विजय प्राप्त किया जाता है, शरीरके सब व्यवहार इंद्रियों-द्वाराही होते हैं, इंद्रियां तेजस्वरूप हैं, इनकी शक्तियां प्रशंसनीय हैं, आनंद और संतोषसुख इनके कारण प्राप्त होता है, इंद्रियोंके लिये विश्राम और निद्राकी आवश्यकता है, इंद्रियोंद्वारा प्रीति की जाती है, सब हलचल इंद्रियोंके द्वारा हो रही है, तथा परोपकार भी इंद्रियोंकी सहायतासे ही किया जाता है ।

(२) राष्ट्रमें देव—ज्ञानी, शूर, व्योपारी और कारीगर—उक्त पुरुष राष्ट्रके इंद्रिय हैं । इनकी मर्दानी खेलोंमें प्रवृत्ति होती है, इनकेद्वारा राष्ट्रका विजय होता है, राष्ट्रके सब व्यवहार इनहीके कारण होते हैं, ये तेजस्वी होते हैं, इनकी शक्तियां प्रशंसनीय होतीं हैं, आनंद और संतोष येही राष्ट्रमें स्थापित करते हैं, ये गाढ निद्राका अनुभव ले सकते हैं, ये परस्पर प्रीतिका व्यवहार करते हैं, सब राष्ट्रीय हलचल इनहीके कारण होती है, ये परोपकार करते रहते हैं ।

(३) जगत्में देव—अग्नि, वायु विद्युत्, सूर्य आदि-ये सब जगत्के पदार्थ जगत्का संपूर्ण व्यवहार होनेमें सहायता देते हैं । इनहींके कारण मनुष्यादि प्राणी उक्त व्यवहार कर सकते हैं ।

इसप्रकार तीनों स्थानोंमें देवोंकी स्थिति है । अब एक उदाहरण लेकर उक्त अर्थ संगत होता है या नहीं इसका विचार करेंगे । उदाहरणके लिये निम्नमंत्र देखिए—

नैनद् देवा आप्नुवन्॥ यजु. ४०।४

"(देवाः) देव (एनत्) इस ब्रह्मको [न आप्नुवन्] प्राप्त नहीं कर सकते।" यह शब्दार्थ है। उक्त तीनों दृष्टियोंसे इसका अर्थ निम्नप्रकार होता है। (१) इंद्रियोंको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती, (२) विद्वान् शूर व्योपारी और कारीगरोंको ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती, (३) अग्नि वायु रविको ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। उक्त यजुर्वेदके मंत्रका यह सीधा अर्थ है। यहां कई पूछेंगे कि इस अर्थकेलिये कोई प्रमाण है या नहीं? है। इस अर्थकेलिये उपनिषदोंमें ही प्रमाण हैं, देखिए—

(१) केन उपनिषद् के पहिले दो खंडोंमें कहा है कि इंद्रियोंके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता, और (३) तीसरे खंडमें कहा है कि अग्नि और वायु भी उसको नहीं जान सके। अर्थात् उक्त यजुर्वेद के मंत्रके एक टुकडे की व्याख्या संपूर्ण केनोपनिषद् है। 'नैनद्देवा आप्नुवन्' इस मंत्रके इतने हिस्सेका भाष्य ही केनोपनिषद् है।

(२) अब शेष रहा विद्वानके विषयका अर्थ! इसकी व्याख्या छांदोग्य उपनिषद् प्र. ७।१ में देखिए। नारद मुनि भगवान् सनत्कुमारके पास जाकर कहते हैं कि मैंने "चारों वेद इतिहास पुराण आदि सब पढे हैं, परंतु मुझे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।" शब्दोंका ज्ञान हुआ परंतु आत्माका अनुभव नहीं हुआ। यही यहां तात्पर्य है। बडे बडे पंडित वेदादि शास्त्रों पर उत्तम शास्त्रार्थ कर सकते हैं, ब्रह्मके गुणभी कहेंगे परंतु सब जबानी जमाखर्च उनका होता है। संपूर्ण व्याख्यानके बीचमें सब खोखलापन रहता है इसलिये कि उनको स्वयं अनुभव नहीं होता है। मिश्रीके मीठेपनका वर्णन पढना और है, और मिश्रीका स्वाद लेना और है। मिश्रीके वर्णनके समान वेदमें परमात्माका वर्णन है। परंतु अनुभव योगके अनुष्ठानसेही प्राप्त होना है। जबतक योगसाधन न किया जाय तबतक जबानी जमाखर्च से कोई लाभ नहीं होता। इसी लिये वेदने स्वयं कहा है कि—

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति॥ ऋग्वेद।

"जो उस ब्रह्मको नहीं जानता, वह मंत्रोंसे क्या करेगा?" अर्थात् परमात्माका अनुभव केवल मंत्रोंके ज्ञानसे नहीं होगा। मंत्रोंका ज्ञान

यह एक साधन अवश्य है, परंतु केवल मंत्रार्थ समझनाही पर्याप्त नहीं है, यह आशय यहां है।

अस्तु इस प्रकार 'देव' शब्दके तीनों अर्थ लेकर स्वयं उपनिषद्-कारोंनें वेदकी व्याख्या की हैं। इसलिये उक्त अर्थ ठीक हैं। अस्तु अब इसका फलित अर्थ देखिए—

वैदिक शब्द	आध्यात्मिक भाव व्यक्तिमें देव	आधिभौतिक भाव राष्ट्रमें देव	आधिदैविक भाव जगत्में देव
१ देव	इंद्रिय (पंचज्ञानें-द्रिय, पंचकर्मेंद्रिय)	विद्वान, ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर)	अग्नि, विद्युत्, वायु, मरुत् आदि
२ देवलोक	इंद्रिय स्थान	विद्वानोंका स्थान	अग्नि आदिका स्थान
देवसभा	इंद्रिय गण, इंद्रिय ग्राम, मस्तिष्क।	विद्वत्परिषद् आमं-त्रण, परिषद, सभा।	आकाशमें देवता-ओंका समूह।
३ दिव्य	इंद्रिय संबंधी	विद्वानोंकेसंबंधी	अग्नि आदि विष-यमें
४ स्वर्ग सु–वर्ग (उत्तमवर्ग)	उत्तम इंद्रियोंका वर्ग	उत्तम विद्वानोंका संघ	अग्नि आदि देवता-ओंका उत्तम वर्ग।

इस प्रकार उक्त अर्थोंका फलितार्थ है। इन भावार्थोंको ध्यानमें रख कर वेदका अर्थ देखना चाहिए। देवोंकी सभा जैसी शरीरमें है वैसीही राष्ट्रमें और जगत्में होती है। किसी स्थानपर देवोंके राज्यमें राक्षसोंका राज्य न हो; इस बातकी खबरदारी लेनी चाहिए। विशेषतः अपने शरीरके इंद्रिय उत्तम संस्कारोंसे सुसंस्कृत बनाने और सच्चे देव बनाने चाहिए।

जो देवताएं वेदमें आगई हैं उनके तीनों स्थानोंमें भाव देखकर वेदका गुह्य आशय देखना चाहिए, तभी वेदका सत्य ज्ञान प्रकाशित हो सकता है और मानव जातिके कल्याणका सत्य मार्ग ज्ञात हो सकता है। आशा है कि विद्वान पाठक इस दृष्टिसे विचार करेंगे।

चमड़े की गाय !!!

निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत संवत्सेनासृजता मातरं पुनः ।
सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितरा कृणोतन ॥

ऋ० मं० १।११०।८

यह मंत्र ऋग्वेदके प्रथम मंडलके एकसौ दसवें सूक्त में आठवां है। इसका अर्थ निम्न प्रकार समझा जाता है:—Out of a skin, O Ribhus, once ye formed a cow, and brought the mother close unto her calf again. Sons of Sudhanvan, Heroes, with surpassing skill ye made your aged parents youthful as before. *(Ralph T. H. Griffith's translation of Rigveda 1-110-8 page 143 second edition.)* अर्थात्—"हे ऋभु देवो ! एक समय आपने चमडेसे एक गाय बनायी, और उस गौमाताको अपने बच्चेके पास आप फिर लाये। हे सुधन्वा के वीर पुत्रो ! अपनी अतुल कुशलतासे अपने वृद्ध माता पिताको आपने पूर्ववत् तरुण बनाया।"

इस अर्थका तात्पर्य यह है कि ऋभुदेव दो बातें करते थे (१) एक चमडे की गाय बनाना और (२) दूसरा वृद्धोंको तरुण बनाना। यह चमत्कार ऋभुदेवोंका है। श्री० सायणाचार्य जी भी उक्त अर्थका ही प्रकाश कर रहे हैं, देखिये:—

'पुरा कस्यचिद् ऋषेर्धेनुर्मृता। स ऋषिस्तस्या धेनोर्वत्सं दृष्ट्वा ऋभून् तुष्टाव ऋभवस्तत्सदृशीं अन्यां धेनुं कृत्वा तदीयेन चर्मणा संवीय तेन वत्सेन समयोजयन्। इत्ययमर्थः पूर्वार्धेन प्रतिपाद्यते।

(सायणभाष्य ऋ० १।११०।८)

"प्राचीन कालमें किसी एक ऋषिकी गाय मर गयी। उस ऋषिने उस धेनु के बच्चेको देखा और ऋभु देवताकी स्तुति की। ऋभु देवों-ने उसीके समान दूसरी गाय बनाई और उस बनावटी गाय पर पहिली गायका चमड़ा सीकर उस बछडेके साथ उस बनावटी गायको जोड़ दिया। यह आशय इस मंत्रके पहिले आधे भागका है।"

इस प्रकार श्री० सायणाचार्य जी महाराज अपनी भूमिका बांध कर आगे पूर्वोक्त प्रकार ही अर्थ लिखते हैं। यदि यह अर्थ सत्य माना जाय तो इससे कुछभी अर्थ की गंभीरता विदित नहीं होती। वृद्धोंको तरुण बनाना औषधि आदिसे सिद्ध होना सम्भव है, परन्तु गाय के मुर्देकी खाल उतार कर, उसकी बनावटी गाय बनाकर उसका बछड़ेके साथ संयोग करनेसे क्या तात्पर्य है, इसका पता नहीं लगता। उक्त मंत्रमें निम्न दो वाक्य हैं:—

(१) चर्मणः गां निरपिंशत।

(२) पुनः मातरं वत्सेन समसृजत।

ये दो वाक्य विशेष विचार की दृष्टि से देखने योग्य हैं। इसपर विचार करने के लिये इनके प्रत्येक-पदका अर्थ देखेंगेः—

(१) चर्मन्–चमड़ा, कवच, ढाल, "पृष्ठभाग"।

(२) गो (गां)–गाय दूध आदि पदार्थ, नक्षत्र, आकाश, वज्र, सूर्यकिरण, हीरा, स्वर्ग, बाण, "पृथ्वी", वाणी, सरस्वती, माता, जल, आंख, चन्द्र।

(३) पिंश्–"तैयार करना", सिद्ध करना, घटकावयवोंकी अवस्था तक पहुंचाना, आकार देना, (To make ready, prepare, be reduced to one's constituent parts; to be organised; to shape;)

(४) निः–पूर्णता के साथ।

उक्त शब्दों के ये अर्थ सब कोशों में उपलब्ध हो सकते हैं। इन अर्थों को विचार की दृष्टि से देखने से पहिले वाक्यका अर्थ निम्न प्रकार ज्ञात हो सकता है:—

(चर्मणः) पृष्ठ भाग के स्थान में (गां) भूमिको (निः) पूर्णताके साथ (अपिंशत) तैयार किया ।

खेति करने के लिये जमीन विशेष प्रकार से तैयार करनी होती है । भूमी का पृष्ट भाग हल आदि चला कर बीज बोने योग्य बनाया जाता है और पश्चात् बीज बोया जाता है । " गौ " शब्द के भूमि और गाय ये दोनों अर्थ प्रसिद्ध हैं । ' पिश् ' धातुका अर्थ तैयार करना ऐसा भी है और चूर्ण करना ऐसा भी है । इस लिये उक्त अर्थ अशुद्ध नहीं है । हल आदि जोत कर भूमि तैयार करने के विषय में निम्न मंत्र में स्पष्ट आज्ञा है:—

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ
वपतेह बीजम् ॥ गिरा च श्रुष्टिः सभरा
असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्कमेयात् ॥

ऋ. १०।१०१।३

" हे मित्रो ! (सीरा युनक्त) हल जोतो, (युगा वितनुध्वं) जोडे फैलाओ । (कृते योनौ) भूमि ठीक होने पर (इह) यहां (बीजं वपत) बीज बोओ । (च) और (गिरा) प्रशंसा के साथ (नः) हम सबके पास (श्रुष्टिः) अन्न (स भरा) भरपूर (असत्) होवे और (नेदीय इत्) शीघ्र ही (सृण्यः) हांसिये (पक्कं एयात्) पक्क धान्यको प्राप्त हों ।"

इस दशम मंडल के मंत्र में हल जोत कर बीज बोने योग्य भूमि सिद्ध करने की आज्ञा है, वह ही भाव निम्न वाक्यमें है:-

(१) गां चर्मणः (स्थाने) निः अपिंशत ।

(भूमिको पृष्ठ भागके स्थान में ठीक तैयार किया ।) यह अर्थ दशम मंडल के मंत्र के साथ ठीक सजता है, और शब्दों के अर्थों से भी ठीक व्यक्त होता है । इस लिये " चमड़े की गाय बनायी " यह श्री० सायणाचार्य जी महाराज का अर्थ ठीक मानने की आवश्यकता नहीं है, तथा श्री० म० ग्रीफिथ साहब का भाषांतर भी भ्रांत ही प्रतीत होता है । अब अगले मंत्र के भाग का आशय देखेंगे:—

(२) पुनः मातरं वत्सेन समसृजत ।

(पुनः) फिर (मातरं) माता को (वत्सेन) बछड़े के साथ (सं) संयुक्त करके (असृजत) छोड़ा।

माता भूमिका वत्स धान्य है। अलंकार की दृष्टि से इस बात को पाठक समझ ही गए होंगे कि, भूमिको हल आदि से ठीक तैयार करने के पश्चात् धान्य रूपी बछड़े के साथ मातृ भूमि को किसान छोड़ देते हैं। और उगने का इंतजार करते हैं। यही बात इस मंत्र में कही है।

तात्पर्य "ऋभु देवों ने भूमि के पृष्ठ भाग को ठीक तैयार किया और भूमि के धान्य रूपी बछड़े को उस भूमि के साथ संयुक्त कर दिया।" यह आशय उक्त मंत्र के पूर्व अर्ध से निकलता है। अब यहां "ऋभु" कौन होते हैं, इसका अवश्य विचार करना चाहिए:—

'ऋभु' का अर्थ (skilful) कुशल कारीगर, (clever) होशियार, समझदार, ज्ञानी, (prudent) बुद्धिमान्, (an artist) कारीगर, हुनर का काम करनेवाला, (a smith) यंत्रकलानिपुण, लोहे आदि का काम करनेवाला, (coachbuilder) गाड़ियां बनाने वाला॥ निरुक्त में इस शब्द के निम्न प्रकार अर्थ दिये हैं:—

ऋभवः उरु भान्ति इति वा। ऋतेन भान्तीति वा।
ऋतेन भवन्तीति वा॥

निरु० ११।१५॥

"जो बहुत प्रकाशते हैं, जो सत्य के कारण तेजस्वी होते हैं, जो सत्य के साथ सदा रहते हैं उनको ऋभु कहा जाता है।" अर्थात् 'ऋभु' का अर्थ–तेजस्वी, सत्यनिष्ठ, सत्य के पक्षपाती है। प्रस्तुत मंत्र में इसका अर्थ 'कुशल' इतना ही है।

"कुशल किसान भूमि को ठीक तैयार करने के पश्चात् उस में बीज बोते हैं" यह आशय यहां स्पष्ट है। यह आशय केवल मैंने ही देखा और किसी को पता नहीं था, ऐसी बात नहीं है। श्री० म० ग्रिफिथ महोदय का अंग्रेजी भाषांतर दिया ही है, यह भाषांतर श्री० सायणाचार्यजी के भाष्य के अनुसार ही है। परन्तु श्री० सायणाचार्यजी के अर्थ इनको पसंद नहीं हैं। इस लिये इन्होंने अपनी टिप्पणी में निम्न वाक्य दिया है:–

(Page 143) 8 A skin:-perhaps the dried up earth. A Cow:—the earth refreshed by the Rains. The mother:—the earth. Her calf:—the autum Sun. Parento:—Heaven and earth. Rig. 1-110-8.)

अर्थात् "चर्म का अर्थ बहुधा यहां सूखी हुई भूमि है। गाय का आशय वृष्टिसे उत्तेजित हुई भूमि है। माता का तात्पर्य भूमि है। उसका बच्चा अर्थात् शरदृऋतु का सूर्य है। मातापिता का अर्थ द्युलोक और पृथ्वी है।"

अर्थात् इस महोदय की दृष्टि से इस मंत्र का तात्पर्य "चमडे की गाय बनाने" में नहीं है, परन्तु यह मंत्र भूमि के विषय की कोई एक घटना बता रहा है। यह ही बात अंशरूप से ऊपर दिखाई है। शेष मंत्र का तात्पर्य निम्न लिखित है। (सौ-धन्वनासः) उत्तम धनुष्य धारण करने वाले वीर (नरः) पुरुष अपने (जिव्री पितरौ) वृद्ध मातापिताओं को (स्वपस्यया; सु+अपस्यया) उत्तम स्फुर्तियुक्त कर्मों से (युवानौ) आरोग्य संपन्न (कृणोतन) करते हैं? अर्थात् वृद्ध मातापिताओंकी सेवा करके, उनके खान पान आदि की उत्तम व्यवस्था रख कर उनको नीरोग और संतुष्ट रखते हैं।

बुद्धिमान् लोकों को उचित है कि वे "भूमि को उत्तम रीति से तैयार करने के पश्चात् उस में बीज बोयें। तथा अपने मातापिताओं की सदा सेवा करें।"

स्वाध्यायशील पाठक इस मंत्रपर अधिक विचार करें।
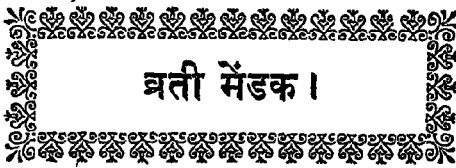
व्रती मेंडक।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ॥
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥

ऋ. ७।१०३।१ अथर्व. ४।१५।१३

इस मंत्र में मेंडकों की स्तुति की गई है ऐसा समझा जाता है। इस का अर्थ श्री० म० ग्रिफिथ साहब निम्न प्रकार करते हैं:—

They who lay quiet for a year, the Brâhmans who fulfil their vows, the Frogs have lifted their voice, the voice Parjanya hath inspired. (Rig. 7. 103. 1 Atherva 4. 15, 13.) वे कि जो एक वर्ष चुप होकर बैठे थे, व्रत का आचरण करनेवाले ब्राह्मण, अर्थात् मेंडक ऊंची आवाज से बोल रहे हैं, जो आवाज पर्जन्य से स्फुरित हुआ है।

इस अर्थ को देते हुए उक्त साहब महोदय अपनी टिप्पणी में लिखते हैं कि, Prof. F. Max Muller......remarks:– 'The hymn ....which is called a panegyric of the frogs, is clearly a satire on the priests; and it is curious to observe that the same animal should have been chosen by the Vedic satirist to represent the priests, which, by the earliest satirist of Greece, was selected as the representative of the Homeric heroes'...... . ... The hymn evidently belongs to a late period of Vedic poetry. (Page 96)

प्रो० मैक्स मूलर.........लिखते हैं कि 'यह सूक्त जो कि मंडूकसूक्त नाम से प्रसिद्ध है, यह स्पष्ट रूपसे पंडितों की निन्दा है। और यह

वास्तव में आश्चर्य है कि जो प्राणी वैदिक उपहासकों ने ब्राह्मणों के सूचक माने हैं, वेही प्राणी प्राचीन ग्रीस देश के उपहासकों ने होमरीय वीरों के सूचक माने थे । .... यह सूक्त स्पष्ट रीति से वैदिक कविता में नूतन काव्य है । (पृष्ठ० १६)

तात्पर्य यह सूक्त "मेंडककाव्य" है और इस में ब्राह्मणों की निंदा है । इस प्रकार युरोपियनों की संमति है । अब हमारे पूज्य श्री० सायणाचार्यजी महाराज की संमति देखेंगेः—

"व्रतचारिणः व्रतं...आचरन्तो ब्राह्मणाः इव संवत्सरं... शशयानाः शिश्र्यानाः......तपश्चरन्त इव बिल एव सन्तः एते मंडूकाः पर्जन्यजिन्वितां पर्जन्येन प्रीतां......वाचं प्रावादिषुः प्रवदन्ति ॥"

ऋ० भाष्य मं० ७।१०३।१

"व्रत का आचरण करनेवाले, ब्राह्मणों के समान वर्ष पर्यंत चुपचाप रहनेवाले, अर्थात् बिल में ही रहते हुए, ये सब मेंडक पर्जन्य से प्रेरित वाणी को बोलते हैं ।" श्री० सायणाचार्य जी के इस भाष्य में वह ही आशय है कि जो पूर्वोक्त अंग्रेजी भाषांतर में आगया है । अब इसी मंत्र पर निरुक्तकार श्री० यास्काचार्य जी महाराज जो संमति प्रकट कर रहे हैं, देखिएः—

"वसिष्ठो वर्षाकामः पर्जन्यं तुष्टाव, तं मंडूका अन्वमोदन्त । स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टावेति । मण्डूका मज्जूका मज्जनात्, मदतेर्वा मादति कर्मणो, मंदतेर्वा तृप्ति कर्मणो, मण्डयतेरिति वैयाकरणा, मण्ड एषामोक इति वा ॥"

निरु० ५।६।

"वसिष्ठ ऋषि ने वर्षा की इच्छा करते हुए पर्जन्य का स्तोत्र किया । उसका मेंडकों ने अनुमोदन किया । इस लिये उस ऋषि ने अनुमोद करनेवाले मेंडकों की स्तुति की । जो पानी में गोता लगाते हैं उनको मंडूक कहा जाता है, जो आनंदित होते हैं, जो तृप्त होते हैं, अथवा वैयाकरणों

के मत से जो मंडन करते हैं उनको मंडूक कहते हैं, किंवा तालाव में जिनका घर होता है वे भी मंडूक कहलाते हैं।" इस प्रकार श्री० यास्काचार्य जी की संमति है। इन सब की संमति के अनुसार यह मंत्र मेंडकों की स्तुति करनेवाला है। अब विचार करना चाहिए कि वास्तव में क्या बात है। सब से प्रथम 'मंडूक' शब्द का अर्थ देखना उचित है:—

'मंड्' धातु से 'मंडूक' शब्द बना है। 'मंड्' धातु का अर्थ निम्न लिखित है। मंड्–भूषायां, मंड्–विभाजने। अर्थात् भूषित करना, सुशोभित करना, विभिन्न करना। खंडन और मंडन ये दोनों अर्थ इस धातु के अन्दर हैं। असत्य का खंडन करके जो सत्य का मंडन करता है उस का नाम 'मंडूक' हो सकता है। पर पक्ष का खंडन कर के स्वपक्ष का मंडन करनेवाला ऐसा इस का धात्वर्थ है।

जिस स्थान पर इस प्रकार का खंडन मंडन होता है या हो सकता है उस स्थान को 'मंडप' कहते हैं। जो सभा खंडन मंडन का कार्य करती है उसका नाम 'मंडल' होता है। उस का उद्देश्य 'मंडन' शब्द से बताया जाता है। फूल आदि से जो स्थान विशेष की शोभा बढ़ाई जाती है उस शोभा साधन को 'मंड' कहते हैं। जो स्थान सजा हुआ होता है उसको 'मंडित' कहते हैं। तात्पर्य 'मंड' धातु से बनेहुए शब्दों के भाव इन शब्दों से व्यक्त होते हैं। इसी प्रकार 'मंडूक' शब्द में भी 'मंडन' का भाव अवश्य है। इस यौगिक अर्थ को लेकर पूर्वोक्त मन्त्र देखेंगे:—

"(संवत्सरं) वर्षपर्यंत (शशयानाः) शांति से बैठेहुए (व्रतचारिणः) नियमों के अनुसार आचरण करनेवाले (मंडूकाः) मंडन करनेमें प्रवीण (ब्राह्मणाः) ज्ञानी लोग (वाचं) संभाषण अथवा वक्तृत्व (प्र अवादिषुः) करते आये हैं।" अर्थात् एक वर्ष की अवधितक किसी विषयका अच्छा विचार और मनन शांति के साथ करके, पूर्ण सदाचार से रहनेवाले और खंडन मंडन करने में अत्यन्त प्रवीण विद्वान लोग ही वक्तृत्व करनेके लिये योग्य होते हैं।

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि उपदेश अथवा वक्तृत्व का अधिकार

उन को ही होता है कि जो (१) शांतिसे बैठ कर बहुत समयतक वक्तव्य विषयका मनन करते हैं, (२) जो सदाचारसे रहते हैं, और जो (३) सत्यासत्य का निर्णय करने की उत्तम शक्ति रखते हैं। परन्तु जो लोग (१) विषय का मनन करते नहीं, (२) जिनका आचार ठीक नहीं है, (३) और जो सत्यासत्य का विचार योग्य रीति से नहीं कर सकते उनको व्याख्यान देने का अधिकार ही नहीं है। यह बोध उक्त मन्त्र से मिल सकता है।

अब इस मन्त्र में 'पर्जन्य जिन्वितां' यह एक शब्द रहा है। यह शब्द उन महात्माओं के वक्तृत्व का स्वरूप बता रहा है। देखिये इस की निरुक्तिः—

पर्जन्य।
पर्-जन्य।
पुर-जन्य।
पूर्ण-जन्य।
पूर्णत्व-जनक।
पूर्णता उत्पन्न करनेवाला।

'जिन्व' धातु का अर्थ 'तृप्ति करना' है। 'पूर्णता और तृप्ति करने वाला' ऐसा उक्त शब्द का अर्थ हुआ। अर्थात् वे सत्पुरुष जो भाषण करते हैं उस से श्रोताजनों के अन्तःकरण तृप्त होते हैं, और श्रोताओं के अन्दर जो जो अज्ञान के कारण न्यूनताएं होतीं हैं, उन की पूर्ति होती है। उनका उत्तम भाषण श्रवण करने के पश्चात् मन का समाधान और अज्ञान का निवारण होता है। श्रोताओं के मन में विक्षेप उत्पन्न नहीं होने चाहिए, परन्तु उन के मन संभाषणश्रवण के पश्चात् शांत और ज्ञान से पूर्ण होने चाहिये। यही वक्तृत्व का उद्देश्य होता है।

इस प्रकार इस मन्त्र का उपदेश है। यह उपदेश सब वक्ताओंको प्रतिसमय ध्यान में धरना उचित है। विशेषकर जो धर्मोपदेशक होते हैं, वे यदि इस उपदेश की ओर विशेष ध्यान देंगे तो धर्मका प्रचार शीघ्र हो सकता है।

गौभक्षक अतिथि ।

'गोघ्नो अतिथि' ऐसा शब्दप्रयोग ब्राह्मणग्रंथोंमें आता है। इसका अर्थ 'गोभक्षक अतिथि' ऐसा समझकर युरोपीयन कहते हैं, कि गोभक्षण करनेकी प्रथा आर्योंमें प्राचीन कालमें थी। इसलिये इसका विचार करना आवश्यक है कि यह युरोपीयन विद्वान और विचारी पंडितोंका अनुमान ठीक है या नहीं।

'गो-घ्न' शब्दमें 'गो' ओर 'घ्न' ऐसे दो शब्द हैं। 'घ्न' पद हन् धातुसे बनता है इसलिये संदेह होता है कि गोहत्याका भाव शायद इस शब्दमें होगा। परंतु वेदमें 'घ्न' पद हत्या अर्थमें आता है ऐसा कोई नियम नहीं। देखिए 'हस्त-घ्न' शब्द—

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः॥
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वतः॥

ऋ. ६।७५।१४

" (हस्त-घ्नः Hand-guard) हाथका रक्षण करनेवाला गोधाचर्मका कवच, (ज्याया हेतिं) धनुष्यकी दोरीके आघातका (परिबाधमानः) निवारण करता हुआ (बाहुं) बाहुको (अहिः इव) सांपके समान (भोगैः) लपेटोंसे (परि एति) लपेटा जाता है। इसप्रकारके कवचसे सुरक्षित और (विश्वा वयुनानि) सब कर्मोंको (विद्वान्) जाननेवाला (पुमान्) पुरुषार्थी मनुष्य। (पुमांसं) पुरुषार्थी मनुष्योंका (विश्वतः) सब प्रकारसे (परिपातु) संरक्षण करे।"

इस मंत्रमें 'हस्तघ्न' शब्द आया है जिसका अर्थ सब युरोपीयन पंडितोंनें Hand-guard ऐसा किया है। देखिए म. मैकडोनेल और कीथका बनाया हुआ वैदिक इंडेक्स। Hand-guard अर्थात् हाथका संरक्षण करनेवाला।

हस्त—घ्नः
Hand-guard
हाथका संरक्षक

अब इस शब्दके समानही निम्न शब्द हैं—

गो—घ्नः
Cow-guard
गायका संरक्षक

वास्तविक इसप्रकार इसका अर्थ होना चाहिए था । परंतु युरोपीयन पंडित इसका अर्थ निम्न प्रकार करते हैं—

गो—घ्नः
Cow-killer
गायका घातक

अब उनको प्रसिद्ध करना चाहिए कि 'घ्न' पदका इस प्रकार अर्थ करनेमें उनके पास प्रमाण क्या है। 'हस्त-घ्न' शब्दके अर्थके विषयमें कोई युरोपीयन शंकाही नहीं उठाते। वैदिक इंडेक्स में म. मैकडोनेल साहेबनें लिखा है कि 'हस्त-घ्न' का यह अर्थ कैसे बना, इसका पता नहीं लगता। परंतु यही अर्थ इसका है इसमें किसीको संदेह नहीं है।

शूर वीर जिस समय युद्ध करते हैं उस समय धनुष्यकी डोरीके आघातसे उनके हाथको कष्ट न हो इसलिये गोधाचर्मका वेष्टन हाथपर लपेटा जाता है। इसका नाम 'हस्त-घ्न' है। यह चर्म हाथका रक्षण करता है, इसलिये इसका दूसरा कोई अर्थ हो ही नहीं सकता। वही 'घ्न' शब्द 'गो-घ्न' शब्दमें पडा है, इसलिये 'गायका संरक्षण करनेवाला' ऐसा इसका अर्थ हो सकता है। वेदमें गायका रक्षण करनेके विषयमें अनेक स्थानपर कहा है और गौका घात न करनेकी आज्ञा वेदमें बहुत स्थानपर है। देखिए—

गां मा हिंसीरदितिं विराजं ॥ यजु. १३।४२॥

"गायकी हिंसा न कर क्यों कि वह (अ-दितिं) काटनेके अयोग्य है और (वि राजं) विशेष तेजस्वी है।"

आरे गो-हा ॥ ऋ. ७, ५६, १६

आरे ते गो-घ्नं ॥ ऋ. १, ११४, १०,

"गायकी हिंसा करनेवालेको दूर रखो ।" ये मंत्र स्पष्टता से गोवधका निषेध कर रहे हैं। गायवाचक 'अ-दिति' शब्द गायकी हिंसाका निषेध करता है, उसी प्रकार 'अ-घ्न्या' शब्दभी गायके हननका निषेधही करता है । इसलिये वेदके वाङ्मयमें गाय काटने, मारने और भक्षणकरनेकी कल्पना नहीं है ।

भक्तिका मार्ग।

कई लोक कहते हैं कि भक्तिका मार्ग वेदमें नहीं है। आधुनिक भागवत-संप्रदायवाले साधुसंतों द्वारा भक्तिमार्गका प्रचार हुआ है ऐसा आजकल सब लोग मानते हैं। वेदके समय केवल यज्ञयाग करनेकी रीति थी, उस समय भक्तिका काम नहीं था, ऐसा भी कई लोग कहा करते हैं। परंतु यह सब कहना निर्मूल है।

वेदमें जिस प्रकार भक्तिका मार्ग है उस प्रकार किसी ग्रंथमें प्रकाशित नहीं हुआ है। एक ईश्वरकी उपासना और उसकी भक्ति वेदमें सर्वत्र है। इतना ही नहीं परंतु यही इस वेदकी विशेषता है। वेदमें जो भक्तिमार्गकी प्रत्यक्षता है वह अपूर्व है। देखिए—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥
सचस्वा नः स्वस्तये ॥

ऋ. १।१।९

"हे (अग्ने) तेजस्वरूप परमात्मन्! पिता जिस प्रकार पुत्रको सुगमतासे प्राप्त होता है उस प्रकार तू [सु-उप-आयनः] हम सबको सुगमतासे प्राप्त होओ। और हम सबके कल्याणके लिये हमारा साथी होओ॥"

इस मंत्रमें परमात्माको पिताके समान संबोधित करके कहा है। परमेश्वरकी जो प्रत्यक्षता यहां स्पष्ट होती है वह निःसंदेह अपूर्व है। परमेश्वर अपना पिता है यह भाव यहां प्रधान है। पिताके पास जिस प्रकार निर्भयतासे पुत्र जाते हैं उसी प्रकार सब जीव परम पिता परमात्माके पास जा सकते हैं यह सबसे ऊंची विश्वासकी सीढी है। इसपर जो आरोहण कर सकते हैं उनको परमात्मप्राप्ति दूर नहीं है। पुत्र अपने जन्मके अधिकारसे पिताके पास जा सकता है, बीचमें किसीकी सिफारिशकी आवश्यकता नहीं है। इस मंत्रमें 'नः' पद है जो 'हम सब' मनुष्योंका वाचक है।

सबका कल्याण यहां अभीष्ट है। किसी एक जातिका, एक देशके मनुष्योंका, एक विशिष्ट रंगवाले मनुष्योंका ही कल्याण यहां अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत 'हम सबका' कल्याण होनेकी प्रबल इच्छा यहां है। भक्तिमार्गमें जो जातिभेद, वर्णभेद तथा स्थानभेद नहीं रहता ऐसा कहते हैं, इस मंत्रसे वही बात स्पष्ट होती है। मनुष्यमात्र अर्थात् हम सब उस ईश्वरके पुत्र हैं और वह हम सबका एकमात्र पिता है, पुत्र जिस प्रकार पिताको प्राप्त करते हैं उस प्रकार हम सब जगत्पिताको प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार भक्तिमार्गकी सबसे श्रेष्ठ भावना ऋग्वेदके प्रारंभिक सूक्तमें ही है। तथापि लोग कह रहे हैं कि, वेदमें भक्तिभाव नहीं है!!

कई लोग यहां शंका उठायेंगे कि मंत्रमें 'अग्नि' शब्द है वह हवनके अग्निका वाचक है, उसका परमेश्वर अर्थ कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें निवेदन है कि **'एक ही परमेश्वरको विद्वान् लोग अनेक नामोंसे संबोधित करते हैं।'** ऐसा ऋग्वेद (मं. १।१६४।४६) में कहा है। यजु. अ. ३२।१ में कहा है कि 'वह ही अग्नि है।' इ०। तथा ईशोपनिषदमें 'अग्ने नय०' मंत्रमें अग्नि शब्द ब्रह्मका वाचक है। इस प्रकार अग्नि शब्दका परमेश्वर अर्थ मुख्य तथा अन्य अर्थ गौण हैं।

पूर्वोक्त मंत्रमें परमात्माको पिता कहा है। पिताके पास जानेके लिये किसी किसी प्रसंगके समय पुत्रको संकोच प्रतीत होता है, परंतु माताके पास विना संकोच पुत्र पहुंच सकता है। तथा सब भीतिको दूर रखता हुआ पुत्र अपने हृदयकी बातें माताके पास कहता है। माताके आश्रयमें पहुंचनेसे पुत्रको जो निर्भयता प्राप्त होती है, उस प्रकारकी निर्भयता कहीं भी प्राप्त नहीं होती। इसीलिये मातृभावसे परमात्माकी भक्ति वेदमें की है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो
बभूविथ॥ अधा ते सुम्नमीमहे॥

ऋ. ८।९८।११ अथर्व. २०।१०८।२

"हे (वसो शतक्रतो) सबके निवासक सैंकडों कर्म करनेवाले परमात्मन्! तू निश्चयसे हम सबका पिता है और तू ही हमारी माता है। इसलिये तेरेसे ही हम सब सुख चाहते हैं।"

देखिए कितनी भक्ति इस मंत्रसे टपक रही है। पिता माताका भाव परमात्माके अंदर भक्त अनुभव कर रहे हैं। तथा परमात्माको प्रत्यक्ष कर रहे हैं ऐसा यहां स्पष्ट विदित होता है। परमात्मा दूर किसी स्थानपर है यह भाव यहां नहीं है, परंतु वह माताके समान निर्भयताका स्थान है और वह प्रत्यक्ष है, यह भाव यहां है। परमात्मासे डरना यहां नहीं है परंतु पुत्र अपनी माताके पास जिस प्रकार सीधे पहुंचते हैं, उसी प्रकार परमात्माके पास हम सब उसके अमृतपुत्र पहुंचते हैं, यह अपूर्व भक्ति-रस यहां है। अब परमात्माके साथ सख्यभक्ति देखिए—

त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता
मर्डिता सोम्यानां ॥ सखा पिता पितृतमः
पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥

ऋ. ४।१७।१७

'तू हम सबका (त्राता) संरक्षक है तथा स्पष्टरूपसे (आपिः) साथी है। उपदेश देनेवाला और शांतस्वभाववालोंको सुख देनेवाला तू ही है। तू ही हम सबका सखा अर्थात् मित्र है और पिता भी तू ही है। पितरोंका प्राचीन पूर्वज पिता भी तूही है।'

इस प्रकार साथी और सखा, तथा पिता और पितामह सब कुछ परमेश्वर है ऐसा यहां स्पष्ट कहा है। परमेश्वरमें अपने सब कुछ रिश्तोंके भाव मानना, समझना और अनुभव करना ही भक्तिकी अंतिम सीमा है। परमात्माके साथ ही अपना सीधा संबंध सदा जागृत रखना चाहिए। भक्तिमार्ग यही है। और देखिए—

तव श्रिया सुदृशो देव देवाः
पुरु दधाना अमृतं सपन्तः ॥

ऋ. ५।३।४

'तेरी शोभासे सब देव सुशोभित हो गये हैं और तेरे आश्रयसे ही विशेष अमृत प्राप्त करते हैं।'

इस मंत्रमें परमात्माके तेजसे सब अन्योंकी तेजस्विता है यह बात स्पष्ट होती है। तू ही एक स्वयं तेजस्वी है अन्य सब तेरे आश्रयसे ही

रहते और तेजस्वी दीखते हैं। जो हम सबकी शोभा है वह तेरे कारण ही है, हमारा ऐश्वर्य तेरी कृपासे ही है और हम सबका सब कुछ तेरेसे ही प्राप्त हो गया है। यह वैदिक भाव भक्तिरससे ओतप्रोत भरा है। इस प्रकारकी भक्ति आधुनिक कवियोंकी उक्तिमें नहीं है और होगी तो उसमें वेदकी भक्तिसे अधिकता नहीं है।

इन मंत्रोंके विचारसे पता लग जायगा कि वेदमें कितनी उज्वल भक्ति एक ईश्वरके विषयमें है। पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण भक्ति, पूर्ण विश्वास और पूर्ण निष्ठा केवल एक परमात्माके विषयमें जो वेदमें दिखाई देती है वह उत्तम प्रकारकी भक्ति है। भक्तिमें आत्मनिवेदनका एक प्रकार है। वेदमें सूक्तोंके सूक्त ऐसे हैं कि जिनमें आत्मनिवेदन उत्तम प्रकारसे है। अपनी अवस्थाको प्रकट करना आत्मनिवेदनसे तात्पर्य है। तथा—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥

यजु. १९।९

'हे ईश्वर तू तेजस्वी है मेरे अंदर तेजकी स्थापना कर।' इस प्रकारकी प्रार्थनाएं स्पष्टरूपसे बता रहीं हैं कि प्राप्तव्य गुणोंका मूल स्रोत परमेश्वर ही है। तथा—

सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

ऋ. १।९४।१

'हे परमात्मन्! तेरी मित्रतामें हम नष्ट नहीं होंगे।' यह दृढ और अचल विश्वास वेद भगवान उपासकोंके मनोंमें उत्पन्न कर रहा है। यही विश्वास है जिसको भक्ति कहते हैं। इस प्रकार वेदमें सर्वत्र भक्ति भरी है। भक्तिसे हृदयकी पूर्णता और पवित्रता होती है। भक्तिके विना धर्मकी पूर्णता नहीं हो सकती। आत्माकी उज्वलता और हृदयका विश्वास भक्तिसे ही होता है।

भक्तके अंतःकरण इतने विशाल होते हैं कि जिनमें "वसुधैव कुटुंबक" की कल्पना जागृत होती है और उस हृदयमें सब विश्वके लिये प्रेमपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। भक्तके ही वे अंतःकरण होते हैं कि जिनमें सब जगतका समदृष्टिसे अवलोकन होता है, भक्तोंके ही दिलोंमें दयाका समुद्र

उछलने लगता है, भक्तोंके ही हृदयोंकी दयाके प्रवाहमें ग्रस्त लोक शांति पाते हैं। भूतदया, सर्व लोक हित आदि भाव भक्तिसे ही फल हैं। इस प्रकारका भक्तिरस है जो हरएक धार्मिक मनुष्यको अपने हृदयमें उत्पन्न करनेका यत्न करना चाहिए।

वेदके सूक्तोंके मननसे भक्तिके सब स्रोत अंतःकरणमें फैलने लगते हैं। और उस भक्तिके जीवनसे जो चित्तकी प्रसन्नता होती है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। धन्य हैं वे लोग कि जो इस प्रकारकी शुद्ध भक्तिसे अपने आत्माकी पवित्रता कर लेते हैं।

यदि पाठक वेदके सूक्तोंका प्रतिदिन स्वाध्याय करेंगे तो उनके अंतःकरणोंमें शुद्ध भक्तिका प्रवाह अवश्य चलेगा। और वे अमृतके भागी होंगे।

हे परमात्मन्! तू हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है इसलिये कृपा करो और हमारे दिलोंमें भक्तिका प्रवाह शुरू करो जिससे हम अपने आपको पवित्र बनाकर तेरे पास रहने योग्य बनेंगे।

सौंदर्यकी कल्पना।

पं॰ मोक्षमुल्लर महोदयजीका एक पत्र प्रसिद्ध हुआ था उसमें उन्होंनें लिखा था कि वैदिक वाङ्मयमें तथा आर्योंके पुस्तकोंमें सौंदर्यकी कल्पनाही नहीं है। क्या यह सत्य है? पं॰ मोक्षमुल्लरजीने वेदोंका अध्ययन लगातार ३६ वर्ष किया। इसलिये वहुतसे लोग उनकाही कथन सत्य मानते हैं। हमने वेदोंका अध्ययन ३६ वर्ष नहीं किया, परंतु यह २७ वां वर्ष ही हमारे वेदाध्ययनका चल रहा है और इन २७ वर्षोंमें भी उतना समय हमको नहीं मिला कि जितना प्रो. मोक्षमुल्लरजीको मिला था। इसलिये यदि समयके कारणही किसीका मत माननीय हो सकता है तो निःसंदेह पं॰ मोक्षमुल्लरकाही हो सकेगा। परंतु उक्त मत माननेमें निम्न मंत्रोंकी वाधा है, जवतक निम्न मंत्रोंकी संगति नहीं लगती तवतक हम उक्त प्रोफैसरजीका मत मान नहीं सकते, देखिये—

सुरूपकृत्नुमूतये॰

ऋ. १।४।१

"(सु) संदर (रूप) रूप (कृत्नुं) करनेवाले ईश्वरकी प्रार्थना करते हैं, क्योंकि वह ही सवका रक्षण करता है।" इस मंत्रमें "सु-रूप-कृत्नु" शब्द है। इसका अर्थ (Maker of beautiful forms) सुंदर आकार वनानेवाला ऐसा होता है। केवल "रूप" शब्दसे ही सुंदर आकृतिकी कल्पना होती है। वह रूपवान् है ऐसा कहने मात्रसे वह सुरूप है ऐसा ही वोध होता है। उस 'रूप' शब्दके साथ और 'सु' लगा है, इसलिये यह "सु-रूप" शब्द निःसंदेह सुंदर आकारका वोधक है अत एव इसमें सौंदर्यकी कल्पना स्पष्ट है; तथा और देखिये—

इंद्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम् अधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति॥

ऋ. ७।२७।३

"(अधि क्षमि) इस पृथ्वीपर (यत्) जो कुछ (वि-सु-रूपं) विशेष सुंदरतायुक्त रूप है उसका तथा सब जगतका राजा इंद्र है।" इस मंत्रका "वि-सु-रूपं" यह शब्द सौंदर्यका ही बोधक है।

रूप=सौंदर्य पूर्ण आकृति

सु-रूप=सुंदर मनोरम आकार

वि-सु-रूप=विशेष सुंदर मनोरम आकार

क्या कोई कह सकता है कि ये शब्द व्यर्थ ही हैं। शब्दोंके प्रयोग विशेष उद्देशसे ही होते हैं। यदि उक्त शब्दोंमें सौंदर्यकी कल्पना नहीं है तो किसकी कल्पना है, कृपया प्रोफेसर साहब कह दें। सौंदर्यका वर्णन करते करते अथर्ववेद २।२।५ में "मनो-मुहः" शब्द आगया है—

अक्ष-कामा मनोमुहः ॥

अ. २।२।५

"आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाले और मनको हिलानेवाले रूप" क्या इन शब्दोंसे अप्रतिम सौंदर्यकी कल्पना व्यक्त नहीं होती?

तथा—

रुशद्वसानः सुदृशीकरूपः ॥

ऋ० ४।५।१५

"जिसका रूप (सु-दृशीक-रूपः) उत्तम दर्शनीय है और जो चमकदार वस्त्र पहनता है।" इस मंत्रका "सु-दृशीक-रूपः" यह शब्द अत्यंत दर्शनीय रूपका बोधक है। रूपोंका भेद भी वेदने बताया है—

याः सरूपा विरूपा एकरूपाः ॥

ऋ० १०।१६९।२

"जो (स-रूपाः) समान रूपवाले, (वि-रूपाः) अनेक रूपवाले किंवा विरुद्ध रूपवाले तथा (एक-रूपाः) एकही आकारवाले हैं।" इस मंत्रके ये शब्द रूपोंके स्वरूपोंका वर्गीकरण कर रहे हैं, इससे स्पष्ट है कि रूपोंके भेद वेदोंमें वर्णन किये हैं। ऋ० १०।६८।३ में 'अनवद्यरूप' शब्द है जिसका अर्थ "अनिंदनीय स्वरूपसे युक्त" ऐसा होता है। इसप्रकार सुंदररूपकी कल्पना वेदसे प्रकट हो रही है।

ये मंत्र स्पष्ट हैं और इन शब्दोंके अर्थ भी स्पष्ट हैं । ऐसे स्पष्ट आधार होते हुए भी युरोपीयन प्रोफेसर कहते हैं कि वेदमें "सौंदर्यकी कल्पन नहीं है ।" और हमारे लोग भी उनकाही वाक्य प्रमाण मानते हैं, क्या यह आश्चर्य नहीं है ?

वास्तवमें हमारे धर्मके मूल आधार ग्रंथ 'स्वतःप्रमाण वेद' हैं । इस लिये उनके अर्थोंकी संगति हमकोही लगानी चाहिये । हमारे देशमें कुछ न कुछ वैदिक परिपाठीका अंश विद्यमान होनेसे वेदोंका अर्थ करना हमारे लिये सुगम भी है । परंतु यह कार्य धन की सहायताके विना नहीं हो सकता । प्रो० मोक्षमुल्लर को साठ साठ हजार रु० देनेवाले लोग इस देशमें विद्यमान हैं, परंतु अपने देशनिवासीको थोडीसीभी सहायता देनेमें रुचि नहीं होती !!! परमेश्वर करे और इस देशके धनिकोंको इस कार्यकी सहायताकरनेकी प्रेरणा होवे ।
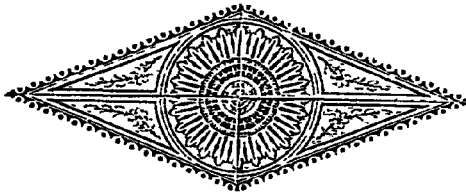
वेद में अक्षर लेखनकी कला।

(१)

सब युरोपियन पंडित एक मत से कहते हैं कि वेद और ब्राह्मण ग्रंथों के समय लेखन-कला नहीं थी। इस लिये इस लेख द्वारा इस विषय की खोज करने का विचार किया है कि, वेद में 'लेखन-कला' के विषय में कुछ विधान हैं या नहीं। यदि हैं तो उन वचनों से क्या सिद्ध होता है। यदि वेद को 'लेखन-कला' का पता न होता, तो निम्न मन्त्र वेद में न आता—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्॥
उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्॥

ऋग्वेद १०।७१।१

आश्चर्य है कि (त्वः-त्यः) एक मनुष्य (वाचं) वाणी को (पश्यन्) देखता हुआ (न ददर्श) देखता नहीं तथा (उत) यह भी आश्चर्य है कि दूसरा मनुष्य (एनां) इस वाणी को (शृण्वन्) सुनता हुआ भी (न शृणोति) सुनता नहीं"।

"(१) वाणी का दर्शन और (२) वाणी का श्रवण" उक्त मन्त्र में लिखा है। शब्दों का मुख से उच्चारण होता है और उच्चारों का कानों से श्रवण होता है। परन्तु 'शब्दोंका दर्शन' न मुख से किया जा सकता है और न कानों से हो सकता है। 'दर्शन' आंख से ही हो सकता है। और जब तक 'वाणी' अक्षरों द्वारा लिखी नहीं जायगी; तब तक 'वाणी का दर्शन' होना असम्भव है। वेद के उक्त मन्त्र में कहा है कि, कई ऐसे लोक होते हैं कि, वे सुनते हुए भी सुनते नहीं। अर्थात् बड़े बड़े व्याख्यानों का श्रवण होने के पश्चात् भी उनके अज्ञान के कारण उस व्याख्यान श्रवण से उनके अन्तःकरण में कुछ भी बोध नहीं होता। यह अज्ञानियों की एक अवस्था है।

अज्ञानियों की दूसरी अवस्था यह है कि, पुस्तक आंख से देखते हुए भी उनको वह लेख न देखने के समान ही होता है। जैसा संस्कृत भाषा न जानने वालों के सामने वेद का पुस्तक। अज्ञानी लोक पुस्तक को देखते हुए भी नहीं देखते। उक्त मंत्र में निम्न वाक्य अत्यन्त महत्व से भरे हैं—

(१) वाचं पश्यन्.........वाणी को देखता हुआ।

(२) वाचं न ददर्श.........वाणी को नहीं देखता।

यदि लेखन कला न होगी तो "वाणी का देखना" सर्वथा असम्भव है। लेखन कला के अस्तित्व के पश्चात् ही वाणी का दर्शन हो सकता है। इस मन्त्र से यह बात सिद्ध है कि वेद में लेखन-कला है।

युरोपीयन पंडित कहते हैं कि, वेद में लेखन कला इसलिये नहीं मानी जा सकती कि वेद का नाम श्रुति है। और 'श्रुति' का अर्थ 'सुनना' है। इस लिये वेद *कानों का विषय है न कि आंखों का।* इसके उत्तर में मैं नम्रता से निवेदन करूंगा; कि उन विद्वान महाशयों को चाहिये की वे दुवारा उक्त मन्त्र के वाक्यों का विचार करें। उक्त मन्त्रमें "वेद काश्रवण" और "वेद का दर्शन" दोनों हैं। इसलिये 'श्रुति' शब्द से उनकी बात सिद्ध नहीं हो सकती। यदि मन्त्र में दर्शन का विषय न-आता, तो उनका पक्ष सिद्ध हो सकता था। परन्तु अब यहां स्वयं वेद ने ही उनके पक्ष का निर्मूलन किया है।

'अक्षर' शब्द का अर्थ=(१) (अक्षन्) आंख, नेत्र, जिस में (र) रमते हैं। (२) (अक्षं) इन्द्रिय, दर्शन इन्द्रिय जिसमें (र) रमता है। (३) (अक्षं) पवित्र ज्ञान को जो (रा) देता है उसका नाम 'अक्ष-र' है।

अक्ष-रम् (आँख को जो सुन्दर दीखता है)
Eye-Pleasing-(Pleasing to the eye)

'अक्ष-र' शब्द की घटना ही बताती है कि, अक्षर का आकार आंख को दीखने वाला है। सुडौल अक्षर देखकर आंख बड़े संतुष्ट होते हैं।

इसलिये सुडौल अक्षरों का नाम ही अक्षर है। यह 'अक्ष-र' शब्द का प्रयोग भी बताता है कि, अक्षर शब्द के प्रयोगके समय लिपि अथवा लेखन की कल्पना विद्यमान थी। 'अक्ष-र' शब्द का उक्त अर्थ पूर्वोक्त 'वाचं न ददर्श' इस मन्त्र के साथ जोड़ कर देखिये, जिस से वेद में लेखन कला का अस्तित्व सिद्ध हो जायगा। इस के साथ अब निम्न मन्त्र देखिये—

महद्वि जज्ञे अक्षरं पदे गोः ॥

ऋ० ३।५५।१

"(गोः) वाणी के (पदे) आधार स्थान में (महत् अक्षरं) महान अक्षर (वि) विविध रीति से (जज्ञे) उत्पन्न हुए हैं।"

वाणी के आधार के लिये अनेक अक्षर बने हैं। अक्षर न हों तो वाणी निराधार होकर किसी स्थान पर ठहर नहीं सकती। 'अ' अक्षर के आधार से अकार का उच्चारण ठहरा है, इसी प्रकार अन्य अक्षरों के विषय में जानना उचित है। यह बड़ा भारी वाणी का तत्वज्ञान वेद ने बताया है। लिपि केवल आधार मात्र है, केवल चिन्हमात्र है। इससे सिद्ध होता है कि अक्षरों की वास्तविक कल्पना उत्तम प्रकार से वेद ने प्रकाशित की है। और एक मन्त्र यहां देखिये—

अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥

यजु० ३३।५९

"(अक्षराणां रवं) अक्षरों के उच्चार (अच्छा जानती) अच्छी प्रकार जानने वाली (प्रथमा) पहिली (सुपदी) उत्तम पदों की कविता जो (गात्) चली आयी है वह ही (अग्रं) अन्तिम स्थान को (नयत्) ले जाती है।"

इस मन्त्र में 'अक्षराणां रवं' ये शब्द मुख्य हैं। अक्षरों का उच्चार, अर्थात् (१) अक्षरों का आकार भिन्न है और (२) अक्षरों का उच्चार भिन्न है। विशिष्ट आकार के अक्षरों का विशिष्ट उच्चार होता है, यह बात यहां स्पष्ट रूप से बताई है। अच्छी प्रकार उच्चार किया हुआ मन्त्र अन्तिम स्थान तक ले जाता है। यदि वेद के श्रवण रूप ही अक्षर होते

तो अक्षरों के उच्चारों को जानना कठिन नहीं हो सकताथा। लिखित अक्षरों के उच्चार जानना कठिन है, इसलिये उक्त मन्त्रमें अक्षरों के ठीक उच्चार करने की सूचना दी है। इससे भी सिद्ध है कि वेदमें लेखन कला है। तथा—

क एषां कर्करी लिखत् ॥

अथर्व० २०।१३२।८

"(कर्करीः) लेखनी लेकर (एषां कः) इनमें से कौन (लिखत्) लिखता है।" इस मंत्र में 'लिख' शब्दका प्रयोग स्पष्ट ही है। लेखनी, कलम (Pen) का नाम 'कर्करी' है क्योंकि लेखनी से लिखने के समय 'कर्र-कर्र-कर्र' ऐसी स्पष्ट आवाज होती है। सरकंडों की लेखना बहुत बड़ी आवाज देती है। देशी कलम से जो लिखना जानते हैं उनको कलम की आवाज का पता होता ही है। इस विषय में निम्न मंत्र और देखिए—

यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन
तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणाऽपि तद्वपामि ॥

अथर्व० १२।३।२२

(यत् यत्) जो जो (अर्पणेन) उत्तम व्यवस्थासे (लिखितं) लिखा है और (द्युत्तं) प्रकाशित किया है, वह (मा) मत् किसी का (सुस्रोः) नाश करे अर्थात् लेख से खराबी न होवे। लेख में (तेन) उस (ब्रह्मणा) ज्ञान के द्वारा (तद् अपि) उस ही ज्ञान का मैं (वपामि) बीज बोता हूं।"

जो लेख लिखा और प्रकाशित किया जाता है वह न बिगड़े अर्थात् लेख के कागज आदि जिनपर लेख लिखा होता है, वह जल्दि बिगड़ने वाला न हो। तथा लिखे हुए पुस्तक शीघ्र खराब न हों। तथा लिखे हुए लेखों और पुस्तकों से पाठकों का मन न बिगड़े। लेख के अन्दर बीज रूप से ज्ञान रहता है। लेखक अपने ज्ञान के वीर्य को अक्षरों के द्वारा कागज पर स्थिर करता है, इस प्रकार जिस कवि का ज्ञान वीर्य लेख द्वारा स्थिर हुआ है, वे कवि अमर हो गये हैं। इस मन्त्र में कई शब्द मुख्य हैं जिनका यहां अवश्य विचार करना उचित है:—

(१) अर्पणेन लिखितं–उत्तम व्यवस्था से लिखा हुआ लेख। 'अर्पण' शब्द का अर्थ–Placing, putting, setting योग्य स्थानमें रखना, यथाक्रमसे रखना, योग्य मेल के साथ रखना।

'अर्पणेन लिखितं' शब्दोंसे सिद्ध होता है कि सुडौल लिखना और बेडौल लिखना ये दोनों भाव वेदको पता थे। इसलिये सुव्यवस्था से सुन्दर हस्ताक्षर से लेख लिखने की सूचना वेद ने दी है।

(२) द्युत्तं–प्रकाशित करना। पहिली अवस्था लेख लिखने की होती है और दूसरी अवस्था लिखे हुए लेखको प्रकाशित करनेकी होती है। लिखा हुआ लेख जब तक प्रकाशित नहीं होगा, तब तक उसका योग्य उपयोग नही हो सकता, इसलिये लेख प्रकाशित करने की सूचना इस शब्दके द्वारा वेद ने दी है।

(३) तेन मा सुस्रोः—लेख के द्वारा नाश न हो। यह उपदेश बड़ा महत्वका है। आजकल प्रेमकथाओंके पुस्तक लिखे और प्रकाशित किये जाते हैं, जिनको पढने से लोक आचार भ्रष्ट हो रहे हैं। सब स्थान पर गंदे उपन्यास बिक रहे हैं। इस प्रकार अवनति कारक लेख किसीको भी लिखना उचित नहीं है। इसलिये वेद कहता है कि ऐसे लेख लिखो कि जो स्वयं नष्ट न हों और दुसरोंका भी नाश न करें।

(४) ब्रह्मणा वपामि—ज्ञानका बीज बोता हूं। अर्थात् ऐसेही लेख लिखने चाहिये कि जो ज्ञानके बीजरूप हों। जिस के अन्दर सत्यज्ञानका वीर्य संगृहित किया हो। लेखकको अपनी योग्यताका ख्याल होना चाहिये। लेखक जो बात अपने लेखमें लिखता है वह पाठकोंकी हृदय भूमीमें बोई जाती है और वहां उसका बड़ा वृक्ष होता है। इसलिये पाठकों के हृदयके जमीन पर कांटोंके वृक्ष बोनेका लेखकको अधिकार नहीं है। अस्तु।

इस प्रकार उक्त मन्त्रका आशय वेद द्वारा प्रकाशित होता है। वेदमें लेखनकला है इस विषय में वेदके प्रमाण ये हैं। इतने स्पष्ट प्रमाण होते हुए भी कई बड़े विद्वान कह रहे हैं कि वेदमें लिपि विज्ञान नहीं है और न वैदिक कालमें लोक लिखना जानते थे। अस्तु। अब देखना है कि श्री०

भगवान् पाणिनी मुनी के समय अक्षर लिखने की कला थी या न थी। पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी—में निम्न सूत्र है:—

अदर्शनं लोपः॥ अष्टा. १।१।६०

'अक्षर के अ-दर्शन को लोप कहते हैं।' यह लोप शब्दकी व्याख्या भगवान् पाणिनी मुनिने अपने व्याकरणमें दी है। अक्षर का दर्शन लिखनेके विना असम्भव है। अक्षरका दर्शन और अक्षरका अदर्शन, ये प्रयोग स्पष्ट बता रहे हैं कि श्री० भगवान् पाणिनी मुनि स्वयं लिख सकते थे और उस समय लेखनकला प्रचलित थी। यदि उस समय के लोक लिखनेकी कला से अनभिज्ञ होते, तो 'अ-श्रवणं लोपः' ऐसा सूत्र होना चाहिये था। परंतु वैसा नहीं है। इससे पाणिनीके समय लेखन कला होनेमें कोई संदेह ही नहीं हो सकता।

ऋग्वेदमें 'वाचं पश्यन्, वाचं न ददर्श' ऐसे प्रयोग हैं और उसी दर्शनका प्रयोग अपने सूत्रमें भगवान् पाणिनी मुनि ने किया है और 'अदर्शनं लोपः' ऐसा सूत्र बनाया है। इस से सिद्ध है कि वेदमें भी अक्षरोंको देखकर पढ़ने का भाव आगया है और वही भाव उसी शब्द से पाणिनी के व्याकरण में आगया है। कोई दुसरा शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ। यदि इस से कोई बात सिद्ध हो सकती है, तो यह ही सिद्ध होगी कि, ऋग्वेद से लेकर अष्टाध्यायी तक के सम्पूर्ण काल में लिखने की कला विद्यमान थी।

भ० पाणिनीके पश्चात् इस समय तक लेखनकला का अस्तित्व सब मानते ही हैं इसलिये इस विषय में अब यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

(२)

(लेखक—पं. विश्वनाथजी, गुरुकुल कांगडी.।)

पाश्चात्य विद्वानोंका विचार है कि भारतमें लेखन कलाका आविष्कार नहीं हुआ। भारतमें लेखन कला बाहिरसे आई है। भारतीयोंकी लेखन-कला उनकी निज कल्पना-कौशलका परिणाम नहीं। तथा भारतमें लेखन कलाका प्रवेश ईसासे लगभग ८०० वर्ष पूर्व हुआ। यह मानते हुए वे

यह भी साथ ही मानते हैं कि वैदिक-युग अथवा संहिता-युग ईसासे ८०० वर्षोंसे पूर्व ही समाप्त हो चुका था । इस पाश्चात्य कल्पनाको साहने रखते हुए हम पाठकोंके विचारार्थ तीन मन्त्र पेश करते हैं जो कि अथर्व वेदके हैं । पाठक स्वयं विचार भी करें कि उन मन्त्रोंमें लेखनकलाकी सत्ताका प्रमाण मिलता है या नहीं । यथाः—

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया ।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥

अथर्व. १९।६८।१

(अव्यसः=अव्यचसः) अव्यापक (च) और (व्यचसः) व्यापकके (बिलम्) भेदको (मायया) बुद्धिद्वारा (विष्यामि) मैं खोलता हूँ (ताभ्याम्) उन दोनोंसे (वेदम्) वेदको (उद्धृत्य) ऊपर उठाकर (अथ) अनन्तर (कर्माणि) कर्मोंको (कृण्महे) हम करते हैं ।

विशेष वक्तव्य— (क) निरुक्तमें लिखा है "व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा ।" अर्थात् व्यच्धातुका अर्थ—व्याप्ति होता है । व्याप्ति कहते हैं विस्तारको व्यच्धातुसे असुन् प्रत्यय होकर "व्यचस्" यह प्रातिपदिक बना । "व्यचस्' का अर्थ है विभुत्व या विभु । इसी प्रकार मन्त्रमें "अव्यसः' का अर्थ होना चाहिये "अ-विभु" या "अव्यापक ।" अव्यस्=अ+व्यस् । अव्यस् पदको वास्तवमें "अव्यचस्" होना चाहिये था । यदि यह कल्पना करली जाय कि "अव्यसश्च" का "च" स्थानभ्रष्ट हो गया है अर्थात् उसका मूल स्थान "व्य" के आगे होना चाहिये था, न कि "सः" के आगे, तब पदशुद्धि उत्तम रीतिसे हो जाती है, और छन्द भी ठीक हो जाता है । अतः मन्त्रमें "अव्यचसो व्यचसश्च" ऐसा पाठ यदि पढ़ा जाय तौ उत्तम होगा । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, "अव्यचस् पद व्यचस् पदके निषेध अर्थमें रखा हुआ है" यथा—अव्यचस्=अ+व्यचस् । पाठक महोदय इस कल्पनापर विचार करनेकी अवश्य कृपा करें । इसलिये "अव्यचस्" का अर्थ "अव्यापक" और "व्यचस्" का अर्थ "व्यापक" यह अत्यन्त स्पष्ट है । इन दोनोंके भेदको मैं अपनी बुद्धि शक्ति, विचार शक्तिद्वारा खोलता हूं, यह मन्त्रके पूर्वार्द्धका आशय है । दार्शनिक

प्रश्नोंका हल दार्शनिक विचारही कर सकते हैं। संसारमें व्यापक और अव्यापक दो शक्तियां हैं या एक? यदि दो हैं तो उनमें साम्य वैषम्य क्या है? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तर दार्शनिक प्रतिभा ही दे सकती है। मन्त्रमें स्पष्ट कहा है कि, मैं व्यापक और अव्यापकके भेदको बुद्धिद्वारा खोलता हूँ। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक सिद्धान्तमें व्यापक और अव्यापक शक्तियोंमें भेद माना गया है। खोलनेका अभिप्राय है स्पष्टीकरण। अर्थात् मैं व्यापक और अव्यापकके भेदको अपनी बुद्धि शक्ति द्वारा स्पष्ट कर देता हूँ जिससे कोई भ्रम या शङ्का उत्पन्न न हो सके।

(ख) प्रोफेसर व्हिटनीनें "विष्यामि" का अर्थ किया है, I unite कि मैं मिलाता हूँ या एक करता हूँ। परन्तु यह ठीक नहीं। निरुक्तकार स्पष्ट लिखते हैं कि "स्यतिरुपसृष्टो विमोचने" (निरु० १।१७) अर्थात् वि+स्यति का अर्थ है खोलना न कि मिला देना। अतः प्रोफेसर व्हिटनीने विष्यामि पदके अर्थ करनेमें गल्ती खाई है।

(ग) (१) व्हिटनीके इस मंत्रके अनुवादमें टिप्पणी लिखते हुए वह लेखक वेद पद पर लिखते हैं "We might conjecture *Vedim* as a better reading, *Veda* is not to be expected in the Atharvan" जिसका अभिप्राय यह है कि मंत्रके तृतीय चरणमें हमें "वेद" पदके स्थानमें "वेदिम्" पदकी कल्पना करनी चाहिए, यतः अथर्वमें वेदकी सम्भावना नहीं।

परन्तु यह क्यों? इसके लिये उन्होंने कोई युक्ति नहीं दी। वेद पदके स्थानमें हम वेदिम् पदकी व्यर्थ कल्पना क्यों करें? कल्पनाके मूलमें कोई अनुपपत्ति वतानी चाहिये थी, परन्तु टिप्पणी लेखने वह कहीं नही दिखाई। साथ उन्होंने इस कथनमें भी कोई प्रमाण अथवा युक्ति पेश नहीं की कि वेदकी सत्ता अथर्व वेदमें क्या असम्भावित है। जब कि इसी अथर्ववेदमें कई स्थानोंमें वेद पद पढ़ा हुआ है।

(२) ग्रिफिथ साहिब "वेद" का अर्थ करते हैं "Bunch of grass" अर्थात् घासका झाड़ू। यह भी उनकी कपोल कल्पित कल्पना है। यद्यपि याज्ञिक सम्प्रदायमें वेद पद इस अर्थमें भी आता है, परन्तु इस मन्त्रमें भी "वेद" पदका हम याज्ञिक अर्थ ही लें, इसमें क्या प्रमाण।

(३) प्रोफेसर ह्विटनी यह भी ख्याल देते हैं कि सम्भवतः मन्त्रमें वेद-पदका अर्थ केवल "घास" ही हो । यह सब आनाकानी क्यों? इसका अभिप्राय यह है कि यदि यहां वेदका अर्थ संहितारूप वेद सिद्ध हो जाय तौ उसके उद्धार करनेके वर्णनसे उसका लेख बद्ध होनाभी प्रमाणित हो सकता है । परन्तु वैदिक युग तौ असभ्यताका युग है, उस युगमें लेख-शैली कैसे हो सकती है । इसी लियेही यहां वेद पर अपूर्व कल्पनाओंका पहाड़ खड़ा किया गया है । अथर्ववेदमें भी कई स्थानोंपर वेद पदसे ऋग्, यजु आदिका विस्पष्ट रूपसे वर्णन किया है । यथा—"यस्मिन् वेदा निहिताः" (अथर्व. ४।३५।६) । अर्थात् जिसमें वेद स्थापित हैं । यहां वेदपदको बहुवचनान्त रखा है । जिससे यहां वेदका अर्थ घास करना सर्वथा अनुचित प्रतीत होगा और नहीं इस प्रकरणमें घासके झाडूओंका ही सम्बन्ध प्रतीत होता है । इसी प्रकार अथर्व. १०।८।१७ में परमात्माके वर्णनमें "वेदं विद्वांसम्" ऐसा पाठ आया है । जिसका अर्थ है "वेदको जाननेवाले परमात्माको" । अतः यहांपर भी वेदका अर्थ ऋग् आदि वेदही प्रतीत होते हैं । इसी प्रकार अथर्व. १५।३।६,७,८ में भी वेदका उपरोक्त अर्थही है यथा ।—

"ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो, यजूंषि निर्यञ्चः; वेद आस्तरणं ब्रह्मोप-बर्हणम्; सामासादः, उद्गीथोपश्रयः" इन मन्त्रोंमें ऋक्, यजुः, वेद, ब्रह्म, साम ये पद इकट्ठे पढ़े हैं । अतः यहाँ वेद पद का और कोई अर्थ करना सर्वथा अनुपपन्न होगा । इसी प्रकार "ब्रह्म प्रजापतिः धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः । तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनम्" (अथर्व. १९।९।१२) इस मंत्रमेंभी वेदका अर्थ ऋक् आदि वेदही प्रतीत होता है । जब अथर्व वेदमें ही इतने स्थानोंमें वेदका अर्थ ऋग् आदि प्रमाणित हो चुका है, तब यह कहना सर्वथा अयौक्तिक है कि, "Veda is not to be expected in Atharvan" । तथा यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, वेद भाष्यकार सायणाचार्य भी इस मंत्रमें "वेदम्" की व्याख्या "अक्षरात्मक—वेद—संग्रहः" इन पदोंमें करते हैं । अतः स्पष्ट है कि सायणाचार्य भी यहाँ वेद पदसे "अक्षर स्वरूप वेद" संहिता-ओंका ही ग्रहण करते हैं, तथा यह भी ख्याल रखना चाहिये कि कौशिक

सूत्रोंमें इस मंत्रका विनियोग वेदारम्भ संस्कार में किया है। अतः इससे और भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस मंत्रमें वेद पद द्वारा संहिता-भागका ही ग्रहण होना चाहिये। अतः इस मंत्रमें वेद पदसे हम क्या अर्थ लें? एतद्विषयक पर्याप्त आलोचना हो चुकी।

(घ) अब हम "ताभ्याम्" पद पर कुछ विचार करना चाहते हैं। "ताभ्याम्" पद तृतीया विभक्तिके द्विवचनका रूप है। और आगे "उद्धृत्य" पद पडा है। "उद्धृत्य" का अर्थ है—उठा कर। और उठाना हाथोंका काम है। अतः "ताभ्याम्" का अर्थ यह हुआ "उन प्रसिद्ध हाथों द्वारा"। "उद्धृत्य" उठाकर। अतः "ताभ्याम् और उद्धृत्य" इन दो पदोंसे यह भाव अवश्य सूचित होता है कि वेद किसी ऐसी शकलमें अवश्य होना चाहिये, जिसे कि हाथों द्वारा उठाया जा सके। अतः यदि हम यह परिणाम निकाल लें कि, यहाँ वेद पदसे लिखित संहिताओंका वर्णन है, तो इसमें कोई अनुपपत्ति या दोष नहीं। प्रत्युत यह परिणाम निकलना स्वाभाविक ही है। अवशिष्ट वाक्य है "अथ कर्माणि कृण्महे" जिसका तात्पर्य यह है कि प्रथम हम हाथों द्वारा वेद संहिताको उठावें और उठाकर उसमें कर्मोंके करनेकी जो विधि निर्दिष्ट है, उसके अनुकूल कर्मोंको करें। इस वर्णनको पढ़ कर हमें निश्चय है कि हमारे पाठक भी लेखकके विचारसे अपनी सहमति प्रकट करेंगे। आगे इस सम्बन्धमें दो मन्त्र और पडे हैं। वे भी हमारे प्रस्तुत विषयपर प्रकाश डालते हैं। अतः उन मन्त्रोंकी भी यहाँ व्याख्या करना हम अत्यावश्यक समझते हैं, यथाः—

"स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचो-
दयन्तां पावमानी द्विजानाम्॥

अथर्व. १९।७१।१

अर्थ—(मया) मैंने (वरदा) अभीष्ट फल देनेवाली (वेद माता) वेदरूपी माताका (स्तुता) स्तवन कर लिया है, (प्रचोदयन्ताम्) इस वेद वाणीकी प्रेरणा अर्थात् प्रचार करो जो वेदवाणी (द्विजानाम्) द्विजोंको (पावमानी) पवित्र करने वाली है।

विशेष वक्तव्य—(क) इस मन्त्रमें तीन बातें कही हैं। (१) मैंने वेदमाताका स्तवन कर लिया है। अर्थात् मैं वेदका स्वाध्याय कर चुका हूँ। मैंने अब वेद पढ़कर समाप्त कर लिये हैं। क्यों कि "स्तुता" में भूत कालमें क्त प्रत्यय है, अतः स्तुताका अर्थ भी भूत कालिक होना चाहिये। (२) यतः वेदाध्ययन समाप्त हो चुका है, अतः तुम इसका संसारमें प्रचार करो। (३) वेदका अध्ययन—प्रचार—पवित्रताका हेतु है। वैदिक ज्ञान मानसिक और आत्मिक पवित्रताका देनेवाला है।

(ख) प्रोफेसर व्हिटनीके नामसे जो अथर्व वेदका अनुवाद प्रसिद्ध हुआ है, उसमें इस मन्त्रके अर्थ करनेके पूर्व निम्न लिखित पङ्क्तियां लिखी हैं—

The Comm. is unable to quote any authority as to its use, but he declares it to belong to the worship of Veda that one has studied.

जिसका अभिप्राय यह है कि "अथर्व वेदके भाष्य कर्त्ता सायनाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्यामें यह लिखा है कि इस मन्त्र द्वारा पाठक अपने पढ़े हुए वेदकी स्तुति करे। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि इस मन्त्रका उच्चारण तब किया जाना चाहिये, जब कि पाठक वेदको पढ चुके। उससे पूर्व नहीं।

अब हम तीसरे मन्त्र पर आते हैं जो निम्न लिखित है।

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरवदध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह॥
अथर्व. १९।७२

अर्थ—(यस्मात्) जिस (कोशात्) कोशसे (वेदम्) वेदको (उदभराम) हमने उठाया था, (तस्मिन्नन्तः) उसी कोशके अन्दर (एनम्) इस वेदको (अवदध्मः) नीचे रख देते हैं। (ब्रह्मणः) वेदके (वीर्येण) सामर्थ्यसे (इष्टम्) इष्ट (कृतम्) हमने कर लिया है, (देवाः) हे देवो! (तेन) उस (तपसा) ब्रह्मचर्यावस्थामें किये तप द्वारा (मा) मेरी (इह) इस गृहस्थाश्रम या संसारमें (अवत) आप रक्षा कीजिये।

विशेष वक्तव्य—इस मंत्रके अर्थमें तीन वाक्योंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये (१) जिस कोशसे हमने वेदको उठाया था, (२) उसी कोशके

अन्दर वेदको रखते हैं, (३) यतः वेदद्वारा जो हमने इष्ट वस्तु पैदा करनी थी, वह कर ली है। इस मंत्रमें वेदको कोशमेंसे उठाने और उसमें रखनेका वर्णन है। कोशका अर्थ होता है खजाना। जिसमें वस्तुएं रखी जावें। अंग्रेजी अनुवादकार भी यहाँ कोशका अर्थ "receptacle" देते हैं। अतः पाठक लोग स्वयं जान सकते हैं कि, जिस वेदको कोशमेंसे निकाला जाय और फिर कोशमें डाला जाय वह वेद लेखबद्ध होना चाहिये या नहीं। यदि वह वेद लेखबद्ध आकार विशेषवाला न हो तो उसका उठाना, रखना, कोशसे बाहिर निकालना और कोशके अन्दर पुनः रखना ये वर्णन कैसे उपपन्न हो सकते हैं? ऊपरके वर्णनसे यह भाव भी स्पष्ट है कि ब्रह्मचारीने जब वेद पढ़ना हो तब वह कोशमें पड़े वेदको निकाल ले और जब ब्रह्मचारी वेद पढ़ चुके तो पुनः उस वेदको वह कोशके अन्दर रख दे। कौशिक सूत्रोंमें भी इस मंत्रका विनियोग समावर्तन संस्कारके समय वेदको कोशमें रखनेकी क्रियामें किया गया है। पाठक ध्यान दें कि पहले मंत्रमें वेदको उठानेका वर्णन आया है, दूसरेमें उसका पूर्ण स्वाध्याय कर लेनेका वर्णन आया है, और इस तीसरे मंत्रमें स्वाध्याय समाप्तिके बाद पुनः उसे कोशमें रखनेका वर्णन आया है।

यदि पहले और तीसरे मन्त्रपर इकट्ठा विचार किया जाय, तो हमें प्रतीत होगा कि प्रथम मन्त्रमें वेदके उठानेका जो वर्णन आया है, वहाँ भी वेदके कोशमेंसे उठानेकाही अभिप्राय है। यतः तीसरे मन्त्रमें यह स्पष्ट शब्द दिये हैं कि, हमने जिस कोशमेंसे वेदको उठाया है उसी कोशमें पुनः हम वेदको रख देते हैं। "उद्भराम" में "उद्" और "अवदध्म" में "अव" परस्पर विरोधी क्रियाओंको दिखा रहे हैं (१) उद्=ऊपर,(२) अव=नीचे। ऊपर उठाना और नीचे रखना। अतः इन मन्त्रोंसे हम इस परिणाम पर अवश्य पहुंच सकते हैं कि वेदोंमें ही वेदोंके लेखबद्ध होनेकाभी प्रमाण अवश्य मिलता है।

विषयसूची.

पृष्ठ.

स्वाध्याय मंडलके पुस्तक।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय ।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या । नरमेध । "मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन।" मूल्य १) एक रु.।

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या। सर्वमेध । "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥) आठ आने।

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥) आठ आने।

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ-माला ।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥) आठ आने।

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=) दस ,,।

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =) दो ,,।

(४) देवता विचार। मू. ≡) तीन ,,।

[३] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग। मू. -) एक आना।

(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग। मू. =) दो आने।

(३) वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक। मू. ≡) तीन आने।

[४] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। योगकी दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया इस पुस्तकमें लिखी है। मू. १॥) डेढ रु.। द्वितीयवार मुद्रित।

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥) आठ आने।

(३) वैदिक-प्राणविद्या। मू. १) एक रु.।

(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।) सवा रु.।

(५) योगसाधनकी तैयारी। मू. १) एक रु.।